सुखी होने की चाबी

(नित्य चिन्तनसहित)

जो जीव, राग-द्वेषरूप परिणमित होने पर भी मात्र शुद्धात्मा में (द्रव्यात्मा में = स्वभाव में) ही 'मैंपन' (एकत्व) करता है और उसी का अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन वैराग्यादि योग्यताओं के बिना प्राप्त नहीं होता।

लेखक – C.A. जयेश मोहनलाल शेठ
(बोरीवली) B.Com., F.C.A.

-: भावार्थसहित नमस्कार मन्त्र :-

णमो अरिहंताणं	तीन काल के तीर्थंकर परमात्माओं एवं केवली परमात्माओं को बारम्बार नमस्कार हो
णमो सिद्धाणं	तीन काल के सिद्ध परमात्माओं को बारम्बार नमस्कार हो
णमो आइरियाणं	तीन काल के आचार्यों को बारम्बार नमस्कार हो
णमो उवज्झायाणं	तीन काल के उपाध्यायों को बारम्बार नमस्कार हो
णमो लोए सव्वसाहूणं	तीन लोक में तीन काल के सभी साधुओं को बारम्बार नमस्कार हो
एसो पंचणमोक्कारो	यह पंचनमस्कार
सव्वपावप्पणासणो	सभी पापों का नाशक है
मंगलाणं च सव्वेसिं	सभी मंगलों में
पढमं हवइ मंगलं	यह प्रथम मंगल है

पञ्चपरमेष्ठीवन्दन श्लोक

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धीश्वराः।
आचार्याः जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवराः रत्नत्रयाराधकाः।
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु ते मङ्गलम्।।

ॐ श्रीमहावीराय नमः

सुखी होने की चाबी

(नित्य चिन्तन सहित)

- लेखक -

CA जयेश मोहनलाल शेठ

(बोरीवली) B.Com., F.C.A.

- सम्पादक -

मनीष यशोधर मोदी

- समर्पण -

माता - पूज्य कान्ता मोहनलाल शेठ

पिता - पूज्य स्वर्गीय मोहनलाल नानचन्द शेठ को

जो जीव, राग–द्वेषरूप परिणमित होने पर भी मात्र शुद्धात्मा में (द्रव्यात्मा में = स्वभाव में) ही 'मैंपन' (एकत्व) करता है और उसी का अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन वैराग्यादि योग्यताओं के बिना प्राप्त नहीं होता।

प्रकाशक – शैलेश पूनमचन्द शाह

अनुमोदक – Brescon Foundation

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ
❖	प्रस्तावना	iii
❖	लेखक के हृदयोद्गार	vi
१	सुखी होने की चाबी	१
२	सवेरे उठकर.....	१९
३	समाधिमरण चिन्तन	३०
४	कन्दमूल के सम्बन्ध में	३४
५	रात्रिभोजन के सम्बन्ध में	३६
६	बारह भावना	३९
७	नित्य चिन्तन की कणिकाएँ	४२
८	निश्चय–व्यवहार की यथार्थ सन्धि	५६
९	यूनिवर्सल लॉ	६५

सम्यग्दर्शन पर अधिक गहन अभ्यास के लिये दिगम्बर शास्त्रों पर आधारित द्रव्यानुयोग और वस्तुव्यवस्था सहित लेखक की अन्य कृति 'सम्यग्दर्शन की विधि' नि:शुल्क पाईये। यह पुस्तक और अन्य साहित्य की *PDFs* और *e-books* आप website www.jayeshsheth.com से डाउनलोड कर सकते हैं।

© CA **जयेश मोहनलाल शेठ**

संस्करण मूल्य : अमूल्य

नोट : यह पुस्तक किसी को प्रकाशित करनी हो तो हमसे सम्पर्क साधने की कृपा करें।

विशेष : अगर आप को इस पुस्तक की ज़रूरत न हो, तो असातना से बचने के लिये नीचे बताये हुए पते पर कृपया भिजवा दें।

– सम्पर्क और प्राप्ति स्थान –

शैलेश पूनमचन्द शाह – ४०२, पारिजात, स्वामी समर्थ मार्ग, (हनुमान क्रॉस रोड नं २), विलेपार्ले (ईस्ट), मुम्बई ४०००५७.

मोबाईल नं. ९८९२४३६७९९/९३२४३३७३२६

Email: spshah1959@gmail.com

मनीष मोदी - हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय - ९, हीराबाग़, सी. पी. टैंक, मुम्बई ४००००४. मोबाईल नं. ९८२०८९६१२८

Email: manishymodi@gmail.com

मुद्रक : **भाविन एस. गांधी** - *राजेश प्रिन्टरी*, लोअर परेल, **मो. : 98675 40524.** • Email : rajeshprintery@gmail.com

प्रस्तावना

अनन्त-अनन्त काल से संसारसागर में भटकते जीव को, भगवान् द्वारा कथित दुर्लभताओं (मनुष्य भव, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल, दीर्घ आयु, पूर्ण इद्रियाँ, निरोगी शरीर, सच्चे गुरु, सच्चे शात्र, सच्ची श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन और मुनिपन) में से शुरुआत की आठ दुर्लभताएँ अनन्त बार मिली हैं, फिर भी उसने अपनी दिशा नहीं बदली। कोल्हू के बैल की तरह चारों गति में परिभ्रमण करता रहा परन्तु पंचम गति अर्थात् मोक्ष के लिये प्रगति नहीं की। ज्ञानियों ने इसका कारण बताया है कि आठ दुर्लभताएँ मिलने के पश्चात् यदि जीव नौवीं दुर्लभता न पाये अर्थात् आत्मानुभव (स्पर्श) न करे अर्थात् सम्यग्दर्शन न पाये तो संसार का फेरा मिटता ही नहीं । मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

यहाँ प्रस्तुत 'सुखी होने की चाबी' आत्मा प्राप्त करने का एक अत्यन्त वेधक, सचोट और सीधा इलाज है। लेखक श्री जयेशभाई शेठ, व्यवसाय से चार्टर्ड अकाऊंटेंट हैं। उन्होंने अपने वर्षों के स्वाध्याय, चिन्तन, मनन, अभ्यास और अनुभव को आचरण में लाने के बाद, मानव समाज के कल्याणार्थ करुणा कर शास्त्रों में दिग्दर्शित सनातन सत्य द्वारा आत्मप्राप्ति का सरल मार्ग दर्शाया है।

कितने ही आगम पढ़ते हुए, पुस्तकें पढ़ते हुए, व्याख्यान सुनते हुए मन में कितने ही प्रश्न उपस्थित हों, कभी-कभी अनेक मतों के कारण मूल सिद्धान्त विस्मृत हो जाता है और विषयान्तरों तथा विवादों में उलझकर मुख्य बात भुला दी जाती है। लेखक की भावना है कि विश्व का प्रत्येक जीव सुखी हो। सुख के शाश्वत सिद्धान्तों को उन्होंने संक्षिप्त, सरल और सुगम भाषा में प्रस्तुत किया है।

अंग्रेज़ी में कहावत है कि सफल व्यक्ति कुछ नया नहीं करता, जो मूलभूत नियम और सिद्धान्त हैं, उन्हीं को नियमित रूप से अपने जीवन में उतारकर वह सफल बन जाता है। इसी न्याय से आप 'सुखी होने की चाबी' की सनातन बातें जीवन में उतारें और भवसागर के चक्कर से बचें।

भगवान की कृपा, लेखक की करुणा और अपने अहोभाग्य से हमें इस भव-भव के चक्रव्यूह को भेदने की सीधी-सरल चाबी, सामान्य मनुष्य को भी समझ में आये ऐसी भाषा और शैली में प्राप्त हुई है। लेखक का यह प्रयत्न तभी सफल होगा जब इस चाबी से प्रत्येक पाठक अपनी आत्मा को भवरूपी बन्धन के ताले से मुक्त कराये। नित्य स्वाध्याय, मनन, चिन्तन और अमल करने से कुछ भी असम्भव नहीं।

यदि एक मेण्ढक और एक सिंह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर मोक्षगामी बन सकते हैं तो विवेकसहित पाँच इद्रियों वाले हम अर्थात् मनुष्य एक पक्का एवं सटीक निर्णय लेकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मोक्षगामी नहीं बन सकते ? ? ? अवश्य बन सकते हैं।

तो पढ़ें, विचारें, चिन्तन करें और अपनायें प्रस्तुत 'सुखी होने की चाबी' को जिससे मोक्षमार्ग और अन्त में मोक्ष पाकर आप अनन्त अव्याबाध सुख प्राप्त करें. इसी भावना के साथ हम आपकी आज्ञा लेते हैं।

जितेन्द्र शान्तिलाल शाह — CA मुकेश पूनमचन्द शाह

शैलेश पूनमचन्द शाह — जयकला नलिन गान्धी

नमिता रसेश शाह

आध्यात्मिक प्रगति के लिये विज़िट करें -
www.jayeshsheth.com

श्रीमहावीराय नमः

लेखक के हृदयोद्गार

यह पुस्तक आध्यात्मिक क्रान्ति सर्जित करने को लिखी गयी है क्योंकि इस काल में जैन समाज दो विभागों में विभाजित हो गया है। एक विभाग मात्र व्यवहारनय को ही मान्य करता है, मात्र उसे ही प्रधानता देता है और मात्र उससे ही मोक्ष मानता है; और दूसरा विभाग मात्र निश्चयनय को ही मान्य करता है, मात्र उसे ही प्रधानता देता है और मात्र उसी से मोक्ष मानता है। वास्तव में मोक्षमार्ग निश्चयव्यवहार की योग्य सन्धि में ही है यह बात मात्र कोई विरले ही जानते हैं। इसी बात को इस पुस्तक में समझाने का प्रयास किया है।

अभी जैन समाज में प्रवर्तित तत्त्वसम्बन्धी ग़लत समझ को दूर करने के लिये हमने अपनी आत्मा की अनुभूतिपूर्वक विचार शास्त्रों के आधारसहित इस पुस्तक में प्रस्तुत किये हैं। इनका विचार-चिन्तन-मनन आप खुले मन से और 'जो अच्छा वही मेरा' और 'जो सच्चा वही मेरा' ऐसा अभिगम अपनाकर करेंगे तो अवश्य ही आप भी परमतत्त्व की प्राप्ति कर सकेंगे, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

मुझे छोटी उम्र से ही सत्य की शोध थी और उसके लिये सभी दर्शनों का अभ्यास किया। अन्त में जैनदर्शन के अभ्यास के पश्चात् १९९९ में ३८ वर्ष की उम्र में मुझे सत्य की प्राप्ति हुई अर्थात् उसका अनुभव/साक्षात्कार हुआ। तत्पश्चात् जैन शास्त्रों का पुनः पुनः स्वाध्याय करते हुए अनेक बार सत्य का अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव

हुआ। इसी की विधि इस पुस्तक में सभी के लाभार्थ देने का प्रयत्न किया है।

मैं किसी भी मत-पन्थ में नहीं हूँ, मैं मात्र आत्मा में हूँ, मात्र आत्मधर्म में ही हूँ, इसलिये यहाँ मैंने किसी मत-पन्थ का मण्डन अथवा खण्डन न करके मात्र आत्मप्राप्ति के लिये जो उपयोगी है, वही सामग्री देने की कोशिश की है। इसलिये सुधि पाठक इसी अपेक्षा से समझें, यह निवेदन है।

इस पुस्तक के विषय में सामान्य और विद्वज्जनों की ओर से उत्कृष्ट अभिप्राय प्राप्त हुए और इसी लिये इस पुस्तक की सोलहवीं आवृत्ति प्रकाशित की जा रही है. मैं उन सभी सुज्ञजनों का हृदयपूर्वक आभार मानता हूँ। पुस्तक तैयार करने में, प्रकाशित करने में तथा वितरण करने में अनेक लोगों ने अलग-अलग प्रकार से सहयोग दिया है, मैं उन सभी के ऋणी हूँ, आभारी हूँ।

आत्मानुभूति पर आधारित विचारों को आप परीक्षा करके और यहाँ दिये गये शास्त्रों के आधार पर स्वीकार करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करें, जिससे आप भी धर्मरूप परिणमन करें और मोक्षमार्ग पर अग्रसर होकर अन्त में सिद्धत्व प्राप्त करें, इसी अभ्यर्थना के साथ...

प्रस्तुत पुस्तक में जाने-अनजाने मुझसे कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध लिखा गया हो तो मेरा त्रिविध-त्रिविध मिच्छामि दुक्कडं, उत्तम क्षमा।

मुम्बई, दिनांक २६-०१-२०२६ **- जयेश मोहनलाल शेठ**

श्रुत प्रभावना : **Brescon Foundation**

श्रीमहावीराय नमः

सुखी होने की चाबी

सर्वप्रथम पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके, मैं सुखी होने की चाबी के विषय में लिखने का प्रयत्न करता हूँ क्योंकि सभी जीव सुख ही चाहते हैं, दुःख से तो सभी दूर रहने का ही प्रयत्न करते हैं। सुख दो प्रकार के हैं - एक शारीरिक इद्रियजनित सुख, जो कि क्षणिक (fleeting) है और दूसरा आत्मिक सुख जो कि शाश्वत (permanent) है।

प्रथम हम शारीरिक, इद्रियजनित सुख के विषय में बतायेंगे, क्योंकि उससे सभी जीव चिरपरिचित हैं। संसारी जीवों के लिये सुख की व्याख्या है - उत्तम स्वास्थ्य (health), भरपूर धन (wealth) तथा अनुकूल पत्नी, पुत्र इत्यादि परिवार (good family)। इन सभी सुखों का स्रोत (source) क्या है? आप कहेंगे कि सौभाग्य (good luck)। तो प्रश्न होगा कि सौभाग्य मिलता कैसे है? बनता कैसे है? तो उसका उत्तर है कि पुण्य से। क्योंकि जो अपना पूर्वकृत पुण्य है, उसे ही सौभाग्य कहते हैं। जबकि पूर्वकृत पापों को दुर्भाग्य (bad luck) कहते हैं। इस कारण जिन्हें अपना नसीब अच्छा बनाना हो, उन्हें पुण्य की तीव्र आवश्यकता है और साथ में पाप से बचने की भी तीव्र

आवश्यकता है क्योंकि पाप तथा पुण्य आमने-सामने बराबर नहीं होते, दोनों अलग-अलग भोगने पड़ते हैं। पाप का फल दु:खरूपी होता है जो कि कोई भी जीव नहीं चाहता। यदि दु:खरूपी फल जीव नहीं चाहता है तो उसका जनक पाप कैसे कर सकता है? पापाचरण नहीं करना चाहिये। कभी नहीं करना चाहिये।

इसलिये सौभाग्य बनाने के लिये तथा दुर्भाग्य से बचने/घटाने के लिये, दैनिक जीवन में जो-जो बड़े पाप होते हैं, वे बन्द करने आवश्यक हैं। जैसे कि कन्दमूलभक्षण, रात्रिभोजन, सप्तमहाव्यसन (जुआँ, शराब, मांस, वेश्यागमन, चोरी, शिकार और परस्त्रीगमन अथवा परपुरुषगमन) तथा अभक्ष्यभक्षण जैसे कि अचार, मद्य, मक्खन इत्यादि तथा अन्याय-अनीति से अर्थोपार्जन करना। ऐसे बड़े पाप बन्द करते ही नये दु:खों का आरक्षण बन्द हो जायेगा। पुराने पापों का पश्चात्ताप करने से और क्रोध, मान, माया, लोभ कम करने से (परन्तु भावना तो हमेशा पूर्ण रूप से छोड़ने की रखनी चाहिये अर्थात् भावना तो वीतरागी बनने की रखनी चाहिये) तथा बारह/सोलह भावनाओं का चिन्तन करने से नये पुण्यों का बन्ध होता है तथा पुराने पापों का बन्ध शिथिल होता है। पुराने पाप कमज़ोर पड़ते हैं। यही सौभाग्य बनाने का तथा दुर्भाग्य से बचने का मार्ग है।

यहाँ किसी का प्रश्न हो कि हमें तो अमुक देवी-देवता की कृपा

तथा उनके दर्शन-भक्ति करने से ही सुख प्राप्त होता दिखायी देता है, तो उन्हें हमारा उत्तर है कि वह सुख आपके पूर्वकृत पुण्य का ही फल है। यदि आपके पाप का उदय हो तो कोई भी देवी-देवता उसे पुण्य में बदलने में समर्थ नहीं है। पुण्य का फल माँगना निदानरूपी शल्य है। निदान करने से बहुत अधिक पुण्य का अल्प फल मिलता है और उस सुख को भोगते समय नियम से बहुत पाप बँधते हैं, जो कि भविष्य के दु:खों के जनक (कारण) बनते हैं। इसलिये माँगो या न माँगो, अपने पूर्वकृत पुण्य-पाप का फल अवश्य ही मिलता है। यही शाश्वत नियम होने पर भी माँगकर पाप को आमन्त्रण /आरक्षण (invitation /booking) क्यों देना ? अर्थात् माँगना ही नहीं, कभी नहीं माँगना।

इससे एक बात तो निश्चित ही है कि हमें जो भी दु:ख आता है, उसमें दोष अपने पूर्वकृत पापों का ही होता है और किसी का नहीं। जो अन्य कोई दु:ख देते दिखते हैं वे तो मात्र निमित्त ही हैं। उनका कोई दोष नहीं है। वे तो आपको, आपके पाप से छुड़ानेवाले ही हैं; तथापि ऐसी समझ न होने से, आपको निमित्त के प्रति ज़रा भी रोष (क्रोध) आये तो आपको पुन: पाप का बन्ध होता है जो कि भविष्य के दु:खों का जनक (कारण) बनता है। इसी प्रकार अनादि से हम दु:ख भोगते हुए, नये दु:खों का सर्जन करते रहे हैं और अब भी कर रहे हैं। इसलिये ऐसे अनन्त दु:खों से छूटने का मात्र एक ही मार्ग है कि दु:ख के निमित्त को

मैं उपकारी मानूँ क्योंकि वह मुझे पाप से छुड़ाने में निमित्त बना है। उस निमित्त का किंचित् भी दोष/ गुनाह का चिन्तन न करूँ बल्कि अपने पूर्व पापों का ही चिन्तन करूँ क्योंकि अपने ही पूर्व के दुष्कृत्य वर्तमान के दु:ख के कारण हैं। इसलिये दु:ख के समय ऐसा चिन्तन करना कि-

१. ओहो! मैंने ऐसा दुष्कृत्य किया था! धिक्कार है मुझपर! धिक्कार है!! मिच्छामि दुक्कडं! मिच्छामि दुक्कडं! **(यह है प्रतिक्रमण)** (Sorry! Sorry!)

२. मैं अब निर्णय करता हूँ कि ऐसे किसी भी दुष्कृत्य का आचरण फिर से कभी करूँगा ही नहीं! कभी नहीं करूँगा! **(यह है प्रत्याख्यान)** (Never again!)

३. दूसरों को अपने दु:ख का कारण मानना छोड़कर अपने ही पूर्वकृत भावों अर्थात् पूर्व के अपने ही पापकर्मों का ही दोष देखकर, दूसरों को उन पापों से छुड़ानेवाले समझकर धन्यवाद दें (Thank you. Welcome!) और नये पापों से बचें। **(यह है समभाव-सामायिक)**

यदि आप सुख चाहते हैं तो आप प्रत्येक जीव को सुख दें! आप जो देंगे वही आपको मिलेगा; यही है कर्म का सिद्धान्त। अपने वर्तमान दु:ख का कारण अपने पूर्व में किये हुये पापकर्म ही हैं। इसलिये यदि आप दु:ख नहीं चाहते हैं तो वर्तमान में आप दूसरे को दु:ख देना बन्द

करें और भूतकाल में आपने जो दुःख दूसरों को दिया हो, उसका पश्चात्ताप करें, उसका चिन्तन करके मन में पश्चात्ताप करें-माफ़ी माँगें।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जगत में तो पापी भी पुजते हुए दिखते हैं, अत्यन्त सुखी दिखते हैं। उस प्रश्न का उत्तर ऐसा है कि यह उनके पूर्वकृत पुण्य का ही प्रताप है। पापी को वर्तमान में बहुत गाढ़े पापों का बन्ध होता ही है जो उसके अनन्त भविष्य में अनन्त दुःखों का कारण बनने में समर्थ हैं। इसलिये किसी के भी वर्तमान उदय पर दृष्टि नहीं डालना क्योंकि वह तो उसके भूतकाल के कर्म पर ही आधारित है। केवल वर्तमान के पुरुषार्थ पर दृष्टिपात करना योग्य है क्योंकि वही उसका भविष्य है। हम अपना वर्तमान उदय बदलने में प्रायः समर्थ नहीं हैं परन्तु अपना भविष्य बनाने में सक्षम हैं। इसलिये तो जीव पुरुषार्थ करके सिद्धत्व भी पा सकता है। इसलिये ही अपने उदय पर दृष्टि न करके अर्थात् उसमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि न करके मात्र और मात्र आत्महित के लिये ही पुरुषार्थ करना योग्य है।

अब तक बताया गया शारीरिक, इन्द्रियजनित सुख वास्तविक सुख नहीं मात्र सुखाभास ही है। यह सुख, दुःखपूर्वक ही होता है। इस सुख का सेवन इन्द्रियों की आकुलतारूपी दुःख के वेग को शान्त करने के लिये ही किया जाता है। तथापि वह अग्नि में ईंधनरूप होता है। वह बार-बार सुख की इच्छारूप दुःख जगाने का ही काम करता है

और उसे भोगते हुए जो नये पाप बँधते हैं, वे नये दुःखों के कारण बनते हैं अर्थात् वैसा सुख दुःखपूर्वक और दुःखरूपी फलसहित ही होता है। वैसा सुख क्षणिक है, क्योंकि वह सुख अमुक काल के बाद नियम से जानेवाला है, अर्थात् जीव को ऐसा सुख मात्र त्रसपर्याय में ही मिलता है। त्रसपर्याय बहुत अल्प काल के लिये होती है, बाद में वह जीव नियम से एकेद्रिय जीवराशि में जन्म लेता है जहाँ उसे अनन्तकाल तक अनन्त दुःख भोगने पड़ते हैं। एकेंद्रिय में से बाहर निकलना भी भगवान ने चिन्तामणिरत्न की प्राप्ति से भी अधिक दुर्लभ बताया है। इसी लिये भगवान ने यह मनुष्य जन्म, पूर्ण इन्द्रियों की प्राप्ति, आर्यदेश, उच्च कुल, धर्म की प्राप्ति, धर्म की देशना, धर्म पर श्रद्धा, धर्म के अनुरूप परिणमन, इत्यादि को क्रमशः दुर्लभ दुर्लभतर और दुर्लभतम बताया है। इसलिये यह अमूल्य दुर्लभ मनुष्यभव मात्र शारीरिक, इद्रियजनित सुख और उसकी प्राप्ति के लिये ज़ाया करने योग्य नहीं है बल्कि इसका एक भी पल व्यर्थ न गँवाकर इसे एकमात्र शीघ्रता से शाश्वतसुख अर्थात् आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिये ही लगाना चाहिये।

अब हम शाश्वतसुख अर्थात् आत्मिक सुख की प्राप्ति का मार्ग बताते हैं। सर्वप्रथम मात्र आत्मलक्ष्य से, उपर्युक्तानुसार सुख की चाबीरूपी शुभभावों का सेवन करना सम्यग्दर्शन के लिये, आत्मा की

योग्यता बनाने के लिये आवश्यक है। सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्ग का दरवाज़ा है। निश्चय सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं हो सकता और मोक्षमार्ग में प्रवेश के बिना अव्याबाध सुख का मार्ग साध्य होता ही नहीं। मोक्षमार्ग में प्रवेश और बाद के पुरुषार्थ से ही सिद्धत्वरूपी फल मिलता है, अन्यथा नहीं। सम्यग्दर्शन के बिना भव का अन्त नहीं होता। सम्यग्दर्शन प्राप्ति के बाद जीव अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल से अधिक संसार में नहीं रहता। वह अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल में अवश्य सिद्धत्व को पाता ही है, जो कि सत्-चित्-आनन्दस्वरूप शाश्वत है। इससे समझ में आता है कि इस मनुष्यभव में यदि कुछ प्राप्त करने योग्य है तो वह एकमात्र निश्चय सम्यग्दर्शन ही है। वही सर्वप्रथम प्राप्त करने योग्य है जिससे हमें मोक्षमार्ग में प्रवेश मिले और हमारा पुरुषार्थ स्फुरायमान होकर आगे सिद्ध पद की प्राप्ति हो। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि जो सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रति कही जानेवाली श्रद्धारूप अथवा नौ तत्त्वों के प्रति कहा जानेवाला श्रद्धारूपी सम्यग्दर्शन है वह तो मात्र व्यावहारिक (उपचाररूपी) सम्यग्दर्शन भी हो सकता है जो कि मोक्षमार्ग के लिये कार्यकारी नहीं माना जाता। स्वानुभूति (स्वात्मानुभूति) सहित सम्यग्दर्शन अर्थात् भेदज्ञानसहित सम्यग्दर्शन ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है और उसके बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश भी शक्य नहीं है। इसलिये यहाँ बताये गये सम्यग्दर्शन को निश्चय सम्यग्दर्शन समझना।

सर्वप्रथम, हम सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझेंगे। सम्यग्दर्शन अर्थात् देव-शात्र-गुरु का स्वरूप जैसा है ठीक वैसा ही समझना, अन्यथा नहीं। जहाँ तक कोई भी आत्मा अपना यथार्थ स्वरूप नहीं समझती अर्थात् स्व की अनुभूति नहीं करती तब तक वह देव-शात्र-गुरु का यथार्थ स्वरूप भी नहीं जानती। वह मात्र देव-शात्र-गुरु के बाह्य स्वरूप/वेष पर ही श्रद्धा करती है और उसे ही सम्यग्दर्शन समझती है। देव-शात्र-गुरु के बाह्य स्वरूप/वेष के प्रति श्रद्धा यथार्थ श्रद्धा नहीं है और इसलिये वह निश्चय सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है, क्योंकि जो एक को (आत्मा को) जानता है, वह सबको (जीव-अजीव इत्यादि नौ तत्त्वों को और देव-गुरु-धर्म के यथार्थ स्वरूप को) जानता है; अन्यथा नहीं क्योंकि वह व्यवहारनय का कथन है। अर्थात् आत्मा को जानते ही वह जीव सच्चे देवतत्त्व का आंशिक अनुभव करता है और इसलिये वह सच्चे देव को मन से पहचानता है और वैसे सच्चे देव को जानते ही अर्थात् (स्वानुभूतिसहित) श्रद्धा होते ही वह जीव वैसा देव बनने के मार्ग में चलनेवाले सच्चे गुरु को भी मन से पहचानता है और साथ ही साथ वह जीव वैसा देव बनने का मार्ग बताने वाले सच्चे शास्त्र को भी पहचानता है।

इसलिये प्रथम तो शरीर को आत्मा न समझना और आत्मा को शरीर न समझना। शरीर से आत्मबुद्धि होना मिथ्यात्व है। शरीर पुद्गल

द्रव्यों का बना हुआ है और आत्मा अलग ही अरूपी द्रव्य है । इसलिये पुद्गल को आत्मा समझना या आत्मा को पुद्गल समझना विपरीत समझ है। भेदज्ञान और स्व के अनुभव से ही वास्तविक सम्यग्दर्शन होता है। इसे कर्म की दृष्टि से देखा जाये तो कर्म की सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम या क्षय को सम्यग्दर्शन कहा जाता है। चूँकि छद्मस्थ को कर्म का ज्ञान नहीं होता, इसलिये हमें तो प्रथम कसौटी से अर्थात् भेदज्ञान और स्वानुभव (आत्मानुभूति) को ही सम्यग्दर्शन समझना चाहिये।

प्रश्न : सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये क्या करना ज़रूरी है ?

उत्तर : भगवान ने कहा है कि 'सभी जीव स्वभाव से सिद्धसमान ही हैं।' यह बात समझना-अनुभव करना ज़रूरी है।

प्रश्न : संसारी जीव शरीरस्थ हैं और सिद्ध जीव मुक्त हैं तो संसारी जीव को सिद्धसमान किस अपेक्षा से कहा गया है ?

उत्तर : शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से संसारी को सिद्धसमान कहा है। जैसे कि संसारी जीव की आत्मा, शरीरस्थ होने पर भी, एक जीवत्वरूपी पारिणामिकभावरूपी होती है; वह जीवत्व का भाव छद्मस्थ में (अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय से) अशुद्ध होता है और उसके कषायात्मा इत्यादि आठ प्रकार भी कहे हैं। वह अशुद्ध जीवत्वभाव

अर्थात् अशुद्ध रूप से परिणमित आत्मा में से अशुद्धि को (विभावभाव को) गौण करते ही, जो जीवत्व का भाव शेष रह जाता है, उसे ही परमपारिणामिकभाव, शुद्धभाव, शुद्धात्मा, कारण परमात्मा, सिद्धसदृशभाव, स्वभावभाव इत्यादि अनेक नामों से पहचाना जाता है और उसी भाव की अपेक्षा से 'सभी जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं' ऐसा कहा जाता है।

यही बात भगवतीसूत्र में १२वें शतक के १०वें उद्देश में भी कही गयी है -

प्रश्न : ''हे भगवान! आत्मा कितनी प्रकार की कही गयी है?

उत्तर : हे गौतम! आठ प्रकार की - द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा।

प्रश्न : हे भगवान! जिसे द्रव्यात्मा होती है, क्या उसे कषायात्मा होती है और जिसे कषायात्मा होती है, क्या उसे द्रव्यात्मा होती है?

उत्तर : हे गौतम! जिसे द्रव्यात्मा होती है, उसे कषायात्मा कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं भी होती परन्तु जिसे कषायात्मा होती है, उसे तो द्रव्यात्मा अवश्य ही होती है।

प्रश्न : हे भगवान्! जिसे द्रव्यात्मा होती है उसे योगात्मा होती

है क्या ? इस प्रकार जैसे द्रव्यात्मा और कषायात्मा का सम्बन्ध कहा, वैसे द्रव्यात्मा और योगात्मा का सम्बन्ध कहना।''

उत्तर : अर्थात् जिसे द्रव्यात्मा होती है, उसे योगात्मा कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं भी होती परन्तु जिसे योगात्मा होती है, उसे तो द्रव्यात्मा अवश्य होती है। द्रव्यात्मा प्रत्येक जीव में होती है। चाहे वह मिथ्यात्वी हो या सम्यग्दृष्टि, छद्मस्थ हो या केवली, संसारी (सशरीरी) हो या सिद्ध (अशरीरी) हो, प्रत्येक जीव में द्रव्यात्मा होती है। इससे समझ में आता है कि द्रव्यात्मा ही शुद्धात्मा (अशुद्ध जीवत्वभाव अर्थात् अशुद्धरूप से परिणमित आत्मा में से अशुद्धि को गौण करते ही, जो जीवत्वरूपी भाव शेष रहता है वह) है। हमने इस पुस्तक में इसी शुद्धात्मा की बात समझायी है।

अब हम यही बात दृष्टान्त से देखते हैं। जैसे मलिन पानी में शुद्ध पानी छिपा हुआ है, ऐसे निश्चय से जो कोई उसमें फिटकरी (alum) फेरता है तो कुछ समय बाद उसमें (पानी में) रही हुई मलिनतारूपी मिट्टी तल में बैठ जाने से, पूर्व का मलिन पानी स्वच्छ दिखता है। इसी प्रकार जो अशुद्धरूप (राग-द्वेषरूप) परिणमित आत्मा है, उसमें विभावरूपी अशुद्ध भाव को बुद्धिपूर्वक गौण करते ही जो शुद्धात्मा (द्रव्यात्मा) प्रकट होती है अर्थात् ज्ञान में विकल्परूप से आती है, उसे भावभासन कहते हैं और उस शुद्धात्मा की अनुभूति होते ही जीव को

सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। अर्थात् वह जीव का उस शुद्ध आत्मरूप में (स्वरूप में, स्वभाव से) 'मैंपन' (एकत्व) होते ही, जो कि पहले शरीर से 'मैंपन' करता था, उस जीव को सम्यग्दर्शन होता है; यह विधि है सम्यग्दर्शन की, अर्थात् 'जो जीव, राग-द्वेषरूप परिणमित होने पर भी, मात्र शुद्धात्मा से (द्रव्यात्मा में, स्वभाव से) ही 'मैंपन' (एकत्व) करता है और उसी का अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन वैराग्यादि योग्यताओं के बिना प्राप्त नहीं होता।'

दूसरा दृष्टान्त जैसे दर्पण में अलग-अलग प्रकार के प्रतिबिम्ब होते हैं, परन्तु उन प्रतिबिम्बों को गौण करते ही स्वच्छ दर्पण दृष्टि में आता है; इसी प्रकार आत्मा में - ज्ञान में जो ज्ञेय होते हैं, वैराग्यादि योग्यतासहित उन ज्ञेयों को गौण करते ही निर्विकल्प ज्ञान का अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव होता है; यही सम्यग्दर्शन की विधि है। इसी विधि से अशुद्ध आत्मा में भी, सिद्धसमान शुद्धात्मा का निर्णय होना और उससे ही 'मैंपन' होने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

प्रश्न : आत्मा में भेदज्ञान कैसे करें ?

उत्तर : प्रथम तो प्रकट में आत्मा के लक्षण से अर्थात् ज्ञानरूप देखने-जानने के लक्षण से आत्मा को ग्रहण करते ही पुद्गलमात्र के साथ भेदज्ञान हो जाता है और बाद में उससे आगे बढ़ने पर, जीव के जो

उदयादि भाव हैं, वे कर्म की अपेक्षा से कहे गये हैं और कर्म पुद्गल होने से, उन उदयादिक भावों को भी पुद्गल के खाते में डालकर, प्रज्ञारूपी बुद्धि से शुद्धात्मा को ग्रहण करना, अर्थात् उन उदयादि भावों को जीव से गौण करते ही जो जीवभाव शेष रहता है, उसे ही परमपारिणामिकभाव, शुद्धात्मा, स्वभावभाव, शुद्धचैतन्यभाव, कारण परमात्मा, द्रव्यात्मा, सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) इत्यादि अनेक नामों से पहचाना जाता है। वैराग्यादि योग्यतासहित उसके अनुभव को ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस भाव की अपेक्षा से 'सभी जीव स्वभाव से सिद्धसमान ही हैं' ऐसा कहा जाता है। इसके अनुभव को ही निर्विकल्प अनुभूति कहा जाता है क्योंकि वह सामान्य भावस्वरूप होने से उसमें किसी विकल्प का स्थान ही नहीं है। यह भेदज्ञान की विधि है।

हम तो इसी शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं और परमसुख का अनुभव करते हैं। अतः हमारा अनुरोध है कि आप भी दृष्टि बदलकर इसे ही शुद्ध देखें और सत्-चित्-आनन्दस्वरूप का आनन्द लें। यही सम्यग्दर्शन का स्वरूप है और यही सम्यग्दर्शन की विधि है।

जो यहाँ बतायी गई युक्ति अनुसार सम्यग्दर्शन का विषय न मानकर अन्यथा ग्रहण करते हैं, वे शुद्धनयाभासरूपी एकान्त शुद्धात्मा को शोधते हैं और मानते हैं। वे भ्रमित हैं। वैसी एकान्तशुद्धात्मा

कार्यकारी नहीं है क्योंकि वैसी एकान्तशुद्धात्मा प्राप्त ही नहीं होती। इसलिये वे जीव भ्रम में ही रहकर अनन्त संसार बढ़ाकर अनन्त दुःखों को प्राप्त करते हैं। वे निश्चयाभासी होते हैं।

सम्यग्दर्शन के लिये अन्य प्रकार से कहा जा सकता है कि जैसे किसी महल के झरोखे से निहारता पुरुष स्वयं ज्ञेयों को निहारता है, न कि झरोखा। उसी प्रकार आत्मा, झरोखेरूपी आँखों से ज्ञेयों को निहारती है, वह ज्ञायक-जाननेवाली स्वयं ही है, न कि आँखें, और वही मैं हूँ, सोऽहम्, वह ज्ञानमात्रस्वरूप ही मैं हूँ अर्थात् वैराग्यादि योग्यतासहित 'मैं मात्र देखने-जाननेवाला ज्ञायक-ज्ञानमात्र शुद्धात्मा हूँ' ऐसा ही अनुभव करना।

जिस समय मति और श्रुतज्ञान, इन दोनों में से किसी एक ज्ञान द्वारा स्वात्मानुभूति होती है, उस समय ये दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्मा को प्रत्यक्ष करते हैं। इसलिये ये दोनों ज्ञान भी स्वात्मानुभूति के समय में प्रत्यक्ष हैं, परोक्ष नहीं। सम्यग्दर्शन अनन्तानुबन्धी कषायचौकड़ी और दर्शनमोह के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से होता है परन्तु उसके साथ ही नियम से सम्यज्ञानरूपी शुद्धोपयोग उत्पन्न होता है। उस शुद्धोपयोग को ही स्वात्मानुभूति कहा जाता है। स्वात्मानुभूति ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम के रूप में होती है। वह शुद्धोपयोग विभावरहित आत्मा का अर्थात् शुद्धात्मा का होने से उसे

निर्विकल्प स्वात्मानुभूति कहा जाता है। स्वात्मानुभूति के काल में मनोयोग भी अतीन्द्रियरूप से परिणमित होने से उसे निर्विकल्प स्वात्मानुभूति कहा जाता है।

ध्यान पर चिन्तन

अब हम ध्यान के विषय में थोड़ा-सा बताते हैं। किसी भी वस्तु-व्यक्ति-परिस्थिति आदि पर मन का एकाग्रतापूर्वक चिन्तन ध्यान कहलाता है। मन का सम्यग्दर्शन के लिये बहुत ही महत्त्व है अर्थात् सम्यग्दर्शन का विषय भी मन से ही चिन्तित किया जाता है और अतीन्द्रिय स्वात्मानुभूति के काल में भी वह भावमन ही अतीन्द्रिय ज्ञान के रूप में परिणमता है। इससे मन किस विषय पर चिन्तन करता है अथवा मन किन विषयों में एकाग्र होता है इसी पर बन्ध और मोक्ष का आधार है, अर्थात् मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है।

कर्म, मन-वचन-काया से बँधते हैं, उनमें सबसे कम कर्म काया से बँधते हैं क्योंकि काया की शक्ति की एक सीमा है जबकि वचन से काया की अपेक्षा अधिक कर्मों का बन्ध होता है। सबसे अधिक कर्मों का बन्ध मन से ही होता है क्योंकि मन को कोई सीमा रोकती ही नहीं। इस लिये मन का बन्ध और मोक्ष में विशिष्ट महत्त्व है। इसीलिये सभी प्रकार की साधना का आधार मन पर ही है और मन किस विषय पर चिन्तन करता है यह जानना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है क्योंकि

उसी से आत्मा की योग्यता ज्ञात होती है और नये कर्मों के बन्ध से भी बचा जा सकता है।

इस मन की एकाग्रतारूपी ध्यान शुभ, अशुभ और शुद्ध-ऐसे तीन प्रकार का होता है। इस ध्यान के चार प्रकार हैं, आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, और शुक्लध्यान। उनके भी बहुत से अन्तर्भेद हैं। मिथ्यात्वी जीवों को आर्तध्यान और रौद्रध्यान नामक दो अशुभ ध्यान सहज ही होते हैं क्योंकि आत्मा के अनादि के संस्कार वैसे ही ध्यान के हैं। तथापि प्रयत्नपूर्वक मन को अशुभ में जाने से रोका जा सकता है। अशुभ में जाने से रोकने की बहुत विधियाँ हैं। जैसे कि आत्मलक्ष्य से शास्त्रों का अभ्यास, आत्मा का ध्यान रखना, छह द्रव्यों के समूहरूपी लोक का चिन्तन, नौ तत्त्वों का चिन्तन, भगवान् की आज्ञा का चिन्तन, कर्मविपाक का चिन्तन, कर्म की विचित्रता का चिन्तन, लोक के स्वरूप का चिन्तन, इत्यादि। ऐसा मिथ्यात्वी जीवों का ध्यान भी शुभ धर्मध्यान कहलाता है, न कि शुद्ध धर्मध्यान; इसलिये उसे अपूर्व निर्जरा का कारण नहीं माना है क्योंकि अपूर्व निर्जरा के लिये ध्यान सम्यग्दर्शनसहित होना आवश्यक है। अपूर्व निर्जरा के लिये शुद्धोपयोगपूर्वक धर्मध्यान होना आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि को तदुपरान्त शुद्धात्मा का ध्यान मुख्य होता है, जिससे वह गुणश्रेणी निर्जरा द्वारा गुणस्थानक आरोहण करते-करते आगे शुक्लध्यानरूपी

अग्नि से सभी घातिकर्मों का नाश करके, केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करता है और अनुक्रम से सिद्धत्व को पाता है।

अन्य प्रकार के ध्यान, जैसे कि कोई एक बिन्दु पर एकाग्रता कराता हो, तो कोई श्वासोच्छ्वास पर एकाग्रता कराता हो अथवा तो अन्य किसी प्रकार से कराता हो परन्तु जिससे देहाध्यास ही दृढ़ होता हो, ऐसा कोई भी ध्यान वास्तव में तो आर्तध्यान ही है। ऐसा ध्यान करने से मन को थोड़ी सी शान्ति मिलने के कारण लोग ठगे जाते हैं और उसे ही सच्चा ध्यान मानते हैं। श्वासोच्छ्वास देखने से और उसका अच्छा अभ्यास होने से, उसे कषाय का उद्भव हो, उसकी जानकारी होने पर भी, स्वयं कौन है, उसका स्वात्मानुभूतिपूर्वक ज्ञान नहीं होने से, ये सब ध्यान आर्तध्यान के रूप में ही परिणमते हैं। ऐसे आर्तध्यान का फल है तिर्यंचगति। क्रोध, मान, माया-कपटरूप ध्यान रौद्रध्यान है और उसका फल है नरक गति। धर्मध्यान के अन्तर्भेदों में भी आत्मा ही केद्र में है, इसलिये ही उसे सम्यक् ध्यान कहा जाता है।

कोई ऐसा मानता हो कि सम्यग्दर्शन ध्यान के बिना नहीं होता तो उसे यह समझना आवश्यक है कि सम्यग्दर्शन भेदज्ञान के बिना नहीं होता, ध्यान के बिना तो होता है। इसलिये सम्यग्दर्शन के लिये आवश्यकता ध्यान की नहीं परन्तु शास्त्रों के आधार पर भली प्रकार निर्णय किया हुआ तत्त्वज्ञान और सम्यग्दर्शन की विषयरूपी शुद्धात्मा

का ज्ञान। उस शुद्धात्मा से 'मैंपन' होते ही स्वात्मानुभूतिरूपी सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसलिये इस मानवभव में यदि कुछ भी प्राप्त करने योग्य है तो वह एकमात्र निश्चय सम्यग्दर्शन ही है। निश्चय सम्यग्दर्शन सर्वप्रथम प्राप्त करने योग्य है। निश्चय सम्यग्दर्शन से स्वयं को मोक्षमार्ग में प्रवेश मिलता है और पुरुषार्थ स्फुरायमान होने पर आगे सिद्ध पद की प्राप्ति होती है, जो कि अव्याबाध सुखस्वरूप है। उससे शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। परन्तु कई अज्ञानी लोग बिना आत्मानुभूति के ही नकली ज्ञाताद्रष्टा का ध्यान भी करने लगते हैं। सभी को ऐसे शाश्वत सुख की प्राप्ति हो, इसी भावना के साथ....

यदि जिनाज्ञा से विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो हमारा त्रिविध-त्रिविध मिच्छामि दुक्कडं ! उत्तम क्षमा।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः !

सवेरे उठकर...

नित्य सुबह सूर्योदय से पहले उठकर अर्थसहित नमस्कार मत्र की जाप करना और सम्भव हो तो हरेक पद के तीन, कुल पद्रह खमासणा/वन्दना करके फिर प्रतिक्रमण करना। अगर सम्पूर्ण प्रतिक्रमण करने लायक समय न हो तो यहाँ दिया हुआ भावप्रतिक्रमण अवश्य करना। पहले सीमन्धर स्वामी की आज्ञा लेकर सामायिक धारण करना अथवा तीन नमस्कार मत्र पढ़कर समाप्त न करें, तब तक का संवर धारण करना।

भाव प्रतिक्रमण

णमो अरिहंताणं। णमो सिद्धाणं। णमो आइरियाणं। णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्वसाहुणं। एसो पंच णमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।

तिक्खुतो आयाहिणं, पयाहिणं, वंदामि, नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासामि। इच्छामि पडिक्कमिउं। इरियावहियाए विराहणाए। गमणागमणे। पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे, ओसा, उत्तिंग, पणग, दग्ग, मट्टी, मक्कडा-संताणा संकमणे, जे मे जीवा विराहिया एगेंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया। अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दिया, ठाणाओ ठाणं,

संकामिया, जीवियाओ ववरोविया तस्स मिच्छामि दुक्कडं। स्वामीनाथ! पाप की आलोचना करने के लिये राईयं (शाम को देवसियं बोलना) प्रतिक्रमण की आज्ञा, इच्छामिणं भंते! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे राईयं (शाम को देवसियं बोलना) पडिक्कमामि ठाएमि (देवसियं/राईयं) ज्ञान, दर्शन, चरिताचरित्ते, तप, अतिचार, चिंतवनार्थं करेमि काउसग्गं णमो अरिहंताणं। णमो सिद्धाणं। णमो आइरियाणं। णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्वसाहुणं। एसो पंच णमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।

पहले आवश्यक की आज्ञा! (ऐसा कहकर ईशान कोने में सीमन्धर प्रभु को तीन वन्दना करना)

करेमि भंते! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव णियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं णकरेमि, णकारवेमि, मणसा वयसा कायसा तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। इच्छामि ठामि काउसग्गं जो मे राईओ (शाम को देवसियो बोलना) अइयारो कओ, काइओ, वाइओ, माणसिओ, उस्सुत्तो, उम्मग्गो, अक्कप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ, अणायारो, अणिच्छियव्वो, असावग पाउग्गो, णाणे तंह दंसणे, चरिताचरित्ते, सुए, सामाइये, तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं, पंचण्ह मणुव्वयाणं, तिण्हं गुणव्वयाणं, चउण्हं सिक्खावयाणं बारस्स विहस्स

सावगधम्मस्स जं खंडियं, जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं! निन्यानवे अतिचार सम्बन्धी कोई भी पाप दोष लगा हो तो अरिहन्त, अनन्त सिद्ध भगवन्तों की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं!

दूसरे आवश्यक की आज्ञा!

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्म तित्थयरे जिणे; अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवलि, उसहमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च; पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे, सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयल सिज्जंसं-वासुपुज्जं च; विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च; वंदामि कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं णमिजिणं च; वंदामि रिट्ठणेमिं, पासं तह व-माणं च। एवं मए अभिथुआ, विहुय रयमला पहीण जरमरणा; चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु। कित्तिय वंदिय महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा; आरुग्ग बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमदिंतु चंदेसु णिम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा; सागरवर गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।

तीसरे आवश्यक की आज्ञा!

इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए, णिसीहियाए अणुजाणह मे मिउग्गहं णिसीहि-अहोकायं-कायसंफासं खमणिज्जो भे! किलामो अप्पकिलंताणं, बहु सुभेणं भे राईओ (शाम को देवसिओ बोलना) वईक्कंतो? जत्ता भे? जवाणिज्जं च भे? खामेमि

खमासमणो! राईये (शाम को देवसियाए बोलना) वइक्कमं आवस्सियाऐ पडिक्कमामि खमासमणाणं, राईया (शाम को देवसिया बोलना) आसायणाऐ तित्तीसन्नयराए जंकिंचि मिच्छाए, मण दुक्कडाए, वय दुक्कडाए, काय दुक्कडाए, कोहाए, माणाए, मायाए, लोहाए सव्व कालियाए, सव्व मिच्छोवयाराए, सव्व धम्माईक्कमणाए आसायणाए जो मे राईओ (शाम को देवसिओ बोलना) अइयारो कओ तस्स खमासमणो! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। स्वामी नाथ! सामायिक एक, चउविसंत्थो दो और वंदना तीन, यह तीनों आवश्यक पूरे हुए। इनके विषय में श्रीवीतरागदेव की आज्ञा में मात्रा, बिन्दी, पद, अक्षर, गाथा या सूत्र, कम/अधिक/ विपरीत पढ़ा गया हो तो अरिहंत, अनन्त सिद्धों की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं!

चौथे आवश्यक की आज्ञा!

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के विषय में जो अतिचार लगे हों वे आलोचता हूँ - ऐसा पढ़ते हुए, गिनते हुए, चिन्तन करते हुए चौदह प्रकार के कोई पाप-दोष लगे हों, तो अरिहन्त एवं अनन्त सिद्ध भगवन्तों की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं! और समकितरूपी रत्न के विषय में मिथ्यात्वरूपी रज, मैल, दोष लगा हो, तो अरिहन्त, अनन्त सिद्ध भगवान की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं। अब

प्रत्येक पापों के जो भी दोष लगे हों, उनका चिन्तन करना और माफ़ी माँगना। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म-कामभोग, परिग्रह, भोग-उपभोग, कर्मदान का धन्धा (व्यापार), अनर्थ दण्ड, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष-कलह, चुग़ली, कपट, मिथ्यात्व - ऐसे समकितपूर्वक बारह व्रत, संल्लेखनासहित अठारह पापस्थानक, पच्चीस मिथ्यात्व, चौदह स्थान के सम्मूर्च्छिम मनुष्य की विराधना सम्बन्धी अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार, जाने, अनजाने, मन, वचन, काया से सेवन किये हों, सेवन करवाये हों, सेवन की अनुमोदना की हो तो अरिहन्त तथा अनन्त सिद्धों की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं !

श्री गुरुदेव की आज्ञा से ! श्री सीमन्धरस्वामी की आज्ञा से !

श्री चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहु मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं, चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगोत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहु लोगुत्तमा, केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगोत्तमो, चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहु सरणं पव्वज्जामि, केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि। चार सरणां, दु:खहरणा, अवर सरण नहि कोई। जो भव्य प्राणी आदरे, अक्षय अविचल पद होवे। अँगूठे अमृत बसे, लब्धि तणां भंडार, गुरु गौतम को समरिये, मनवांछित फल दातार। भावे भावना भाविये, भावे दीजे दान, भावे धर्म आराधिये, भावे केवलज्ञान। बोलो

श्रीमहावीरस्वामी भगवान की जय! जिनशासन देव की जय! बोलो सभी सन्तों की जय!

चार गति, चौबीस दण्डक, चौरासी लाख जीवयोनि, एक करोड साढ़े सत्तानवे लाख कोटि जीवों को मेरे जीवने आरम्भ से, समारम्भ से, मन, वचन, काया से दुःख दिये हों; द्रव्य प्राण, भाव प्राण दुखाया हो; परितापना - कष्ट दिये हो; क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, राग से, द्वेष से, हास्य से, भय से, कटाक्ष से, ढिठाई से, अपने मत की स्थापना से, पराये मत के खण्डन से, दुष्ट लेश्या से, दुष्ट परिणाम से, दुष्टध्यान से-आर्त-रौद्रध्यान से, ममता से, हठ से, अवज्ञा की हो; दुःख दिया हो, सुख छीना हो; प्राण, पर्याय, संज्ञा, इद्रिय आदि लब्धि-ऋद्धि से भ्रष्ट किये हों; तो वे सब मिलकर अठारह लाख, चौबीस हज़ार, एक सौ बीस प्रकार से पाप-दोष लगे हों; तो अरिहन्त, अनन्त सिद्ध भगवन्तों की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं! खामेमि सव्व जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे, मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ। अहं आलोइयं, निंदियं, गरहियं, दुगंछियं, सम्मं तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिण चउव्वीसं। इति अतिचार आलोच्या, पडिक्कम्या, निंदिया, निस्सल्ल हुए। विशेष अरिहन्त, सिद्ध, केवली, गणधरजी, आचार्यजी, उपाध्यायजी, साधु, साध्वी, गुर्वादिक को बारम्बार नमन करके क्षमा चाहता हूँ, श्रावक-श्राविकाओं से क्षमा चाहता हूँ, सम्यग्दृष्टि जीवों से क्षमा चाहता हूँ, उपकारी माता-पिता, भाई-बहनों

से क्षमा चाहता हूँ तथा चौरासी लाख जीव योनि के जीवों से क्षमा चाहता हूँ।

पाँचवें आवश्यक की आज्ञा!

राईयं (शाम को देवसियं बोलना) पायच्छित्तं विशुद्धनार्थं करेमि काउसग्गं। णमो अरिहंताणं। णमो सिद्धाणं। णमो आइरियाणं। णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्वसाहुणं। एसो पंच णमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं। चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करना।

छठवें आवश्यक की आज्ञा!

शक्ति अनुसार नियम वग़ैरह प्रत्याख्यान लेना। कोई भी प्रत्याख्यान या पच्चक्खाण संकल्प अनुसार, सीमन्धरस्वामी की साक्षी में तीन णमोकार मत्र बोल कर ले सकते हैं। स्वामीनाथ! सामायिक एक, चउवीसत्थो दो और वंदणा तीन, प्रतिक्रमण चार, काउसग्ग पाँच और छठवाँ पच्चक्खाण। ये छहों आवश्यक के विषय में श्रीवीतराग देव की आज्ञा में मात्रा, बिन्दी, पद, अक्षर, गाथा, सूत्र, कम/अधिक/विपरीत पढ़ा हो तो अरिहन्त, अनन्त सिद्धों की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं!

मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, अव्रत का प्रतिक्रमण, प्रमाद का प्रतिक्रमण, कषाय का प्रतिक्रमण, अशुभ योग का प्रतिक्रमण, ये सब

मिलकर बयासी बोलों का प्रतिक्रमण। उस के विषय में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार, जाने-अनजाने में, मन, वचन, काया से जो कोई पाप दोष का सेवन किया हो, तो अरिहन्त, अनन्त सिद्धों की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं!

गत काल का प्रतिक्रमण, वर्तमान काल का संवर और आनेवाले काल का पच्चक्खाण। इनके विषय में जो कोई पाप दोष लगा हो, तो अरिहन्त, अनन्त सिद्धों की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं!

सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था। सत्य की श्रद्धा, ग़लत का बारम्बार मिच्छामि दुक्कडं। देव अरिहन्त, गुरु निर्ग्रन्थ, केवलीभाषित दयामय धर्म। ये तीन तत्त्व सार, संसार असार। भगवन्त! आपका मार्ग सत्य है। तमेव सच्चं! तमेव सच्चं! करेमि मंगलं, महामंगलं, थव थुइ मंगलं।

पहला नमुत्थुणं श्री सिद्ध भगवन्तों को करता हूँ। नमुत्थुणं! अरिहंताणं, भगवंताणं, आइगराणं तित्थयराणं, सयं-संबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिस सिहाणं, पुरिसवर पुंडरीयाणं, पुरिसवर गंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं, लोगणाहाणं, लोगहिआणं, लोगपैवाणं, लोगपज्जोअगराणं, अभयदयाणं, चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं, सरणदयाणं, जीवदयाणं, बोहिदयाणं, धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं,

धम्मणायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवरचौरंत चक्कवट्टीणं, दीवो ताणं सरणगई पैट्ठ, अप्पदिहयं वरणाण, दंसणधराणं, विअत्य चौमाणं, जिणाणं-जावयाणं, तिणाणं, तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं, मुत्ताणं मोयगाणं, सव्वण्णूणं सव्वदरिसीणं, सिवं अयलं अरुअं अणतं अक्खयं अव्वाबाहं अपुणराविित्तिं, सिद्धिगइणामधेयं ठाणं संपताणं, णमो जिणाणं जिअभयाणं।

दूसरा नमोत्थुणं श्री अरिहंत भगवंतों को करता हूँ। नमुत्थुणं! अरिहंताणं, भगवंताणं, आइगराणं तित्थयराणं, सयं-संबुद्घाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिस सिहाणं, पुरिसवर पुंडरीयाणं, पुरिसवर गंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं, लोगणाहाणं, लोगहिआणं, लोगपैवाणं, लोगपज्जोअगराणं, अभयदयाणं, चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं, सरणदयाणं, जीवदयाणं, बोहिदयाणं, धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मणायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवरचौरंत चक्कवट्टीणं, दीवो ताणं सरणगई पैट्ठु, अप्पदिहयं वरणाण, दंसणधराणं, विअत्य चौमाणं, जिणाणं-जावयाणं, तिणाणं, तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं, मुत्ताणं मोयगाणं, सव्वण्णूणं सव्वदरिसीणं, सिवं अयलं अरुअं अणतं अक्खयं अव्वाबाहं अपुणराविित्तिं, सिद्धिगइणामधेयं ठाणं संपताणं, णमो जिणाणं जिअभयाणं।

तीसरा नमुत्थुणं धर्मगुरु, धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, सम्यक्त्व-रूपी बोधिबीज देने वाले, जिनशासन के शृंगार ऐसी अनेक शुभ

उपमाओं से विराजमान जो-जो साधु-साध्वियाँ वीतरागदेव की आज्ञा में जहाँ-जहाँ विचरते हों, वहाँ-वहाँ उनको मेरी प्रत्येक समय की वन्दना हो। सामायिक समाप्त करना अथवा संवर तीन णमोकार मत्र बोलकर समाप्त करना।

सूर्यास्त के समय भी उपरोक्त प्रतिक्रमण करें, उसके बाद वाचन, मनन, चिन्तन, ध्यान करें। उसमें चिन्तन करना कि यह देह तो कभी न कभी छूटनेवाली ही है तो क्यों ना इसके प्रति ममता अभी से ही छोड़ दें ? अर्थात् देह की ममता तत्काल छोड़ने योग्य है। मेरी अनादि की यात्रा में यह देह तो मात्र एक विश्रामस्थल ही है और इस विश्रामस्थल में यदि मैं अपना काम न कर लूँ तो फिर अनन्त काल तक अवसर आये ऐसा नहीं है। इसलिये भगवान ने हर दिन यह मेरा अन्तिम दिन है इस प्रकार जीवन जीने को कहा है। इसलिये देह, धन ऐर परिवार का मोह छोड़कर, मात्र अपनी आत्मा के लिये ही चिन्ता, चिन्तन, मनन, ध्यान करने योग्य है - मेरी आत्मा ने इन चार गतियें, चौबीस दण्डकों तथा चौरासी लाख जीव योनियों में अनादिकाल से परिभ्रमण करते हुए अनन्तानन्त भव जिये हैं, अनन्त जीवों के साथ रिश्तेदारी और सम्बन्ध बनाये हैं और सबको अपना माना है। ममत्वभाव से बहुत परिग्रह एकत्रित करके अपना माना है परन्तु आज से मुझे प्रभु! आपकी कृपा से भान हुआ है इसलिये उन सबको अरिहन्त, अनन्त सिद्धों की साक्षी से अन्तःकरणपूर्वक मन, वचन,

काया से विस्मृत करता हूँ! अब मेरा उन सभी के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं। वोसिरामि! वोसिरामि!! वोसिरामि!!!

तीन मनोरथ - आरम्भ परिग्रह तजकर, कब होऊँ व्रतधर; अन्त समय आलोचना, करूँ सल्लेखना सार। नित्य सोते समय सागारी सन्थारा धारण करना-आहार, शरीर और उपधी (परिग्रह) पचक्खू, पाप अठारह; मरण आवे तो वोसिरे, जिऊँ तो आगार।

नोट :- नित्य सुबह-शाम मातापिता को प्रणाम करना, अवकाश के दिन इस प्रतिक्रमण के अर्थ समझना और चिन्तन करना, जिन्हें सुबह/शाम को समय न मिले, वे यह प्रतिक्रमण जब समय मिले तब कर सकते हैं। दूसरे, नित्य-जब भी समय मिले, नमस्कार मत्र का स्मरण करना। कोई भी शास्त्र पढ़ते हुए याद रखना कि - यह मैं अपने लिये पढ़ता हूँ। इसमें बताये गये सभी भाव मेरे जीवन में उतारने योग्य हैं। तीसरा, हमेशा याद रखना कि अच्छा वही मेरा-सच्चा वही मेरा; यह नहीं कि मेरा वही अच्छा-मेरा वही सच्चा। जो सच्चा मिले, उसे स्वीकारने को तैयार रहना, मिथ्या मान्यताएँ छोड़ने को (बदलने को) तैयार रहना। मत-पन्थ-सम्प्रदाय-व्यक्तिविशेष का आग्रह छोड़ देना।

समाधिमरण चिन्तन

सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक है कि मृत्यु का मतलब क्या है। और वास्तव में मरण किसका होता है ?

उत्तर : आत्मा तो अमर है। कभी मरती ही नहीं। वास्तव में आत्मा के पुद्गलरूपी शरीर के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध का अन्त होने को ही मरण कहा गया है। इसलिये मृत्यु का अर्थ है, आत्मा का एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में जाना।

संसार में कोई एक घर छोड़कर, दूसरे अच्छे घर में रहने जाता है अथवा कोई पुराने कपड़े बदलकर नये कपड़े पहनता है तब कोई शोक नहीं करता। ट्रेन में सब अपना-अपना स्टेशिन आने पर उतर जाते हैं परन्तु कोई उसका शोक करता नहीं दिखता; तो मरण के प्रसंग में शोक क्यों ? इसका सबसे बड़ा कारण है मोह! मृतक को अपना माना था, इसलिये दु:ख होता है। सभी जानते हैं कि एक दिन सबको इस दुनिया से जाना है तथापि अपने बारे में कभी कोई विचार नहीं करता और उसके लिये समाधिमरण की तैयारी भी नहीं करता। इसलिये सभी को अपने समाधिमरण के बारे में विचार कर, उसके लिये तैयारी करना चाहिये।

इसलिये प्रश्न उठता है कि समाधिमरण का मतलब क्या और

उसकी तैयारी कैसे होती है? समाधिमरण अर्थात् एकमात्र आत्मभाव से (आत्मा में समाधिभाव से) वर्तमान देह को छोड़ना। अर्थात् मैं आत्मा हूँ इस अनुभवसहित मृत्यु, अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित मृत्यु को समाधिमरण कहा जाता है। समाधिमरण का महत्त्व इसलिये है कि वह जीव सम्यग्दर्शन साथ लेकर जाता है अन्यथा, अर्थात् समाधिमरण न होने पर, वह जीव सम्यग्दर्शन का वमन कर जाता है। लोग समाधिमरण की तैयारी के लिये सल्लेखना की भावना भाते हुए दिखते हैं। अन्त समय की आलोचना करते हुए/कराते हुए दिखते हैं, निर्यापकाचार्य (सन्थारे का निर्वाह करानेवाले आचार्य) की शोध करते दिखते हैं परन्तु सम्यग्दर्शन, जो कि समाधिमरण का प्राण है, उसके विषय में लोग अनजान ही दिखते हैं। इसलिये समाधिमरण की तैयारी के लिये यह पूरा जीवन एकमात्र सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के उपाय में ही लगाना चाहिये, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना अनन्त बार दूसरा सब कुछ करने पर भी आत्मा का उद्धार सम्भव नहीं हुआ, भवभ्रमण का अन्त नहीं हुआ। अर्थात् बिना सम्यग्दर्शन के कोई भी उपाय करने से, कदाचित् एक-दो, या थोड़े से भव अच्छे मिल भी जायें तथापि भवभ्रमण का अन्त नहीं होता। अनन्त दु:खों का अन्त नहीं आता। नरक-निगोद से मुक्ति (यानी अब के बाद वह जीव कभी नरक/निगोद में नहीं जायेगा) नहीं मिलती इसलिये ऐसे दुर्लभ

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये और समाधिमरण की तैयारी के रूप में; इस संसार के प्रति वैराग्य, संसार के सुखों के प्रति उदासीनता और शास्त्र स्वाध्याय से यथार्थ तत्त्व का निर्णय आवश्यक है।

यह मनुष्यभव अत्यन्त दुर्लभ है, इसलिये इसका उपयोग किसमें करना यह विचारना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि जैसा जीवन जिया हो, प्रायः वैसा ही मरण होता है। इसलिये नित्य जागृति ज़रूरी है। जीवन में नीति-न्याय आवश्यक है, नित्य स्वाध्याय, मनन, चिन्तन आवश्यक है क्योंकि आयुष्य का बन्ध कभी भी पड़ सकता है और गति के अनुसार ही मृत्यु के समय लेश्या होती है। इसलिये जो समाधिमरण चाहते हों, उन्हें सारा जीवन सम्यग्दर्शनसहित धर्ममय जीना आवश्यक है। इसलिये जीवनभर सारे प्रयत्न सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये ही करने योग्य हैं क्योंकि सम्यग्दर्शन के लिये किये गये सभी शुभभाव यथार्थ हैं। बिना सम्यग्दर्शन के वे भवमुक्ति के लिये अयथार्थ सिद्ध होते हैं। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद भी प्रमाद करना योग्य नहीं है क्योंकि भगवान् की आज्ञा है कि एक समय का भी प्रमाद नहीं करना है।

सबको सिर्फ़ अपने परिणामों पर दृष्टि रखनी चाहिये और उनमें ही सुधार करना चाहिये। 'दूसरे क्या करते हैं?' अथवा 'दूसरे क्या कहेंगे?' इत्यादि न सोचकर अपने लिये क्या योग्य है यही सोचना है।

आर्तध्यान और रौद्रध्यान के कारणों का सेवन नहीं करना और यदि भूल से, अनादि के संस्कारवश आर्तध्यान और रौद्रध्यान हुआ हो तो तुरन्त ही उसमें से हटना (प्रतिक्रमण); उसका पश्चात्ताप करना (आलोचना) और भविष्य में ऐसा कभी न हो (प्रत्याख्यान) ऐसा दृढ़ निर्धारण करना। इस प्रकार दुर्ध्यान से बचकर, पूरा यत्न संसार के अन्त के कारणों में ही लगाना चाहिये। ऐसी जागृति पूरे जीवन के लिये आवश्यक है, तभी मृत्यु के समय जागृतिसहित समाधि और समताभाव रहने की सम्भावना होती है कि जिससे समाधिमरण हो सके। सभी को ऐसा समाधिमरण प्राप्त हो इसी भावना के साथ....

यदि जिनाज्ञा के विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो त्रिविध-त्रिविध मिच्छामि दुक्कडं ! उत्तम क्षमा।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः !

कन्दमूल के सम्बन्ध में

हमने पहले देखा कि कन्दमूलभक्षण से अनन्त पाप लगते हैं तो किसी को प्रश्न होता है कि ऐसा कैसे है? उसका कारण (logic) क्या है?

उत्तर : हमने पूर्व में देखा कि जो हम दूसरों को देते हैं, वही हमें प्राप्त होता है। इसलिये हम अपना जीवन गुज़ारने में जो दुःख दूसरे जीवों को देते हैं, वही दुःख हमें वापिस (reciprocate होकर) मिलेंगे। जैसे कि जब हम प्रत्येक वनस्पति का भोजन में उपयोग करते हैं, तब उसमें संख्यात जीव होने से जितना पाप लगता है उसकी अपेक्षा कन्दमूल अर्थात् अनन्तकाय वनस्पति का भोजन में उपयोग करने से, उसमें अनन्त जीव होने से, अनन्तगुणा पाप लगता है और इसलिये ऐसा करने से हमारे जीवन में अनन्त दुःख आते हैं।

इसी लिये कहा गया है कि पूरे जीवन में प्रत्येक वनस्पतिकाय का भोजन में उपयोग करने से जितना पाप लगता है, उससे अनन्तगुणा पाप कन्दमूल अर्थात् अनन्तकाय वनस्पति का एक टुकड़ा खाने से लगता है क्योंकि उस कन्दमूल अर्थात् अनन्तकाय के एक टुकड़े में असंख्यात सतहें-प्रतर (layers) होती हैं और प्रत्येक प्रतर में असंख्यात श्रेणियाँ (lines) होती हैं, प्रत्येक श्रेणी में असंख्यात गोले (balls) होते हैं, प्रत्येक गोले में असंख्यात शरीर (bodies) होते हैं

और प्रत्येक शरीर में अर्थात् कन्दमूल-अनन्तकाय-निगोद के एक शरीर में अनन्तानन्त जीव होते हैं।

प्रश्न : अनन्तानन्त अर्थात् कितने ?

उत्तर : सभी सिद्धों से अनन्तानन्तगुणे। इसलिये कहा जा सकता है कि कन्दमूल अर्थात् अनन्तकाय के एक टुकड़े में असंख्यात X असंख्यात X असंख्यात X असंख्यात X अनन्तानन्त जीव होते हैं। इसलिये सुख चाहनेवाले जीवों को कन्दमूल के सेवन से बचना चाहिये, क्योंकि वे अनन्त दुःख का कारण बनने में सक्षम हैं अर्थात् उनके प्रयोग से अनन्त पापकर्म बँधते हैं, जो कि अनन्त दुःख के कारण बनने में सक्षम हैं।

आत्मार्थी को किसी भी मत-पन्थ-सम्प्रदाय-व्यक्तिविशेष का आग्रह, हठाग्रह, दुराग्रह, कदाग्रह, पूर्वाग्रह अथवा पक्ष होना ही नहीं चाहिये क्योंकि वह आत्मा के लिये अनन्त काल की बेड़ी समान है अर्थात् वह आत्मा को अनन्त काल तक भटकानेवाला है। आत्मार्थी की 'जो अच्छा वह मेरा' और 'जो सच्चा वह मेरा' यह सोच होनी अत्यन्त आवश्यक है, जिससे वह अपनी मिथ्या मान्यताओं को छोड़कर सत्य को सरलता से ग्रहण कर सके। यही उसकी योग्यता कहलाती है।

रात्रिभोजन के सम्बन्ध में

रात्रिभोजन का त्याग मोक्षमार्ग के पथिक के लिये तो आवश्यक है ही परन्तु उसके आधुनिक विज्ञान अनुसार भी अनेक लाभ हैं। जैसे कि रात्रि नौ बजे शरीर की घड़ी (body clock) के अनुसार पेट में रहे हुए विषमय तत्त्वों की सफ़ाई (detoxification) का समय होता है। उस समय यदि पेट भरा हुआ हो तो शरीर वह कार्य नहीं करता (skip करता है) अर्थात् पेट में कचरा बढ़ता है। जो रात्रिभोजन नहीं करते, उनका पाचन नौ बजे तक हो जाने से उनका शरीर विषमय तत्त्वों की सफ़ाई का कार्य भली प्रकार कर लेता है। दूसरे, रात्रि में भोजन के पश्चात दो से तीन घण्टे तक सोना निषिद्ध है और इसलिये जो रात्रि में देर से भोजन करते हैं, वे देर से सोते हैं। रात्रि में ग्यारह से एक बजे के दौरान गहरी नींद (deep sleep) लिवर की सफ़ाई और उसकी नुक़सान भरपाई (cell regrowth) के लिये अत्यन्त आवश्यक है जो कि रात्रिभोजन करनेवाले के लिये मुमकिन ही नहीं है। इसलिये यह भी रात्रिभोजन से बड़ा नुक़सान है। आरोग्य की दृष्टि से इसके अतिरिक्त भी रात्रिभोजनत्याग के अनेक लाभ हैं।

आयुर्वेद, योगशात्र और जैनेतर धर्मों के अनुसार भी रात्रिभोजन निषिद्ध है। जैनेतर दर्शनों में तो रात्रिभोजन को मांस खाने के समान

और रात्रि में पानी पीने को ख़ून पीने के समान बताया है। रात्रिभोजन करनेवाले के सभी तप-जप-यात्रा व्यर्थ होते हैं और रात्रिभोजन का पाप सैंकड़ों चद्रायतन तपों से भी नहीं धुलता ऐसा बताया है।

जैन धर्म के अनुसार भी रात्रिभोजन में बहुत पाप बताया है। यहाँ कोई ऐसा कहे कि रात्रिभोजनत्याग इत्यादि व्रत अथवा प्रतिमाएँ तो सम्यग्दर्शन के बाद ही होती हैं तो हमें इस रात्रिभोजन से क्या दोष लगेगा? तो उन्हें हमारा उत्तर है कि रात्रिभोजन से दोष सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि को ही अधिक लगता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि उसे रच-पच कर सेवन करता है, जबकि सम्यग्दृष्टि को आवश्यक न हो, अनिवार्य न हो तो ऐसे दोषों का सेवन करता ही नहीं और यदि किसी काल में ऐसे दोषों का सेवन कर भी लेता है तो भीरुभाव से और रोग की औषधिरूप से करता है; आनन्द से अथवा स्वच्छन्दता से नहीं। इस कारण से धर्मशास्त्रों से किसी भी प्रकार का छल ग्रहण नहीं करना चाहिये। धर्मशास्त्रों में प्रत्येक बात अपेक्षा से कही गयी है। व्रत और प्रतिमाएँ पंचम गुणस्थान में कही हैं इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य कोई निम्न भूमिकावाले उन व्रत और प्रतिमाओं को अभ्यास के लिये अथवा पाप से बचने के लिये ग्रहण नहीं कर सकते। बल्कि सबको उन नियमों को अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये। जिन्हें दु:ख प्रिय नहीं है वे

दुःख के कारणरूप पापों का आचरण कैसे कर सकते हैं? वे ऐसा आचरण कर ही नहीं सकते! यह सोचकर सभी को रात्रिभोजन का त्याग अवश्य ही करना चाहिये, यही हमारा आपसे अनुरोध है।

आत्मार्थी को एक ही बात ध्यान में रखनी है कि यह मेरे जीवन का अन्तिम दिन है और यदि इस मनुष्य भव में मैंने आत्मप्राप्ति नहीं की तो अब अनन्त, अनन्त, अनन्त काल पश्चात् भी मनुष्य जन्म, पूर्ण इन्द्रियों की प्राप्ति, आर्यदेश में जन्म, उच्च कुल, धर्म की प्राप्ति, धर्म की देशना इत्यादि मिलनेवाले नहीं हैं; बल्कि अनन्त, अनन्त, अनन्त कालपर्यन्त अनन्त, अनन्त, अनन्त दुःख ही मिलेंगे। इसलिये यह अमूल्य दुर्लभ मनुष्य जन्म, मात्र शारीरिक इन्द्रियजनित सुख और उसकी प्राप्ति के लिये ख़र्च करने योग्य नहीं है। मानव का जीवन एक भी पल व्यर्थ न गँवाकर, शीघ्रता से एकमात्र शाश्वतसुख - आत्मिकसुख की प्राप्ति के लिये ही लगाना चाहिये।

बारह भावना

- **अनित्य भावना** - सभी संयोग अनित्य हैं। कोई भी मेरे साथ हमेशा रहनेवाला नहीं है। इसलिये लोगों के प्रति मोह त्यागना, उनमें 'मैंपन' और 'मेरापन' त्यागना।

- **अशरण भावना** - मेरे पापों के उदय के समय मुझे माता-पिता, पत्नी-पुत्र, पैसा इत्यादि कोई भी शरण नहीं दे सकता। वे मेरा दुःख हर सकें ऐसा भी नहीं है। इसलिये उनके प्रति मोह त्यागना, उनमें अपनापन त्यागना चाहिये परन्तु उनके प्रति कर्तव्य पूरी तरह निभाना है।

- **संसार भावना** - संसार अर्थात् संसरण-भटकन और उसमें एक समय के सुख के सामने अनन्तकाल का दुःख मिलता है। अतः ऐसा संसार किसे पसन्द आयेगा ? किसी को भी नहीं। इसलिये एकमात्र लक्ष्य संसार से छूटने का ही रहना चाहिये।

- **एकत्व भावना** - अनादि से मैं अकेला ही भटकता रहा हूँ, अकेला ही दुःख भोगता रहा हूँ; मृत्यु के समय मेरे साथ कोई भी आनेवाला नहीं है। अतः मुझे जितना सम्भव हो, उतना अपने में ही (आत्मा में ही) रहने का प्रयत्न करना चाहिये।

- **अन्यत्व भावना** - मैं कौन हूँ ? यह चिन्तन करना अर्थात् पहले

बताये अनुसार पुद्गल और पुद्गल (कर्म) के आश्रित भावों से स्वयं को भिन्न अनुभव करने से आत्मा से ही 'मैंपन' (अपनापन) होता है। इसे ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। वही इस जीवन का एकमात्र कर्तव्य होना चाहिये।

- **अशुचि भावना** - हमारे अन्दर अपने शरीर को सुन्दर सजाने का भाव है और विजातीय के शरीर के प्रति आकर्षण है। उस शरीर की चमड़ी हटते ही सिर्फ़ मांस, ख़ून, पीप, मल, मूत्र इत्यादि ही दिखते हैं जो कि अशुचि हैं। ऐसा सोचकर अपने शरीर का और विजातीय के शरीर का मोह त्यागना, उससे मोहित नहीं होना।

- **आस्रव भावना** - पुण्य और पाप ये दोनों मेरे (आत्मा के) लिये आस्रव हैं; इसलिये विवेक द्वारा पहले पापों का त्याग करना और फिर एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से शुभभाव में रहना कर्तव्य है।

- **संवर भावना** - सच्चे (कार्यकारी) संवर की शुरुआत सम्यग्दर्शन से ही होती है, इसलिये उसके लक्ष्य से पापों का त्याग करके एकमात्र सच्चे संवर के लक्ष्य से द्रव्यसंवर पालना।

- **निर्जरा भावना** - सच्ची (कार्यकारी) निर्जरा की शुरुआत

सम्यग्दर्शन से ही होती है, इसलिये उसके लक्ष्य से पापों का त्याग करके एकमात्र सच्ची निर्जरा के लक्ष्य से यथाशक्ति तप करना।

- **लोकस्वरूप भावना** - प्रथम, लोक का स्वरूप जानना, इसके पश्चात् यह चिन्तन करना कि मैं अनादि से इस लोक के सभी प्रदेशों में अनन्त बार जन्मा और मृत्यु को प्राप्त हुआ; अनन्त दुःख भोगे, अब कब तक यह सिलसिला चालू रखना है ? इसके अन्त के लिये सम्यग्दर्शन आवश्यक है। अतः उसकी प्राप्ति का उपाय करना। दूसरे, लोक में रहे हुए अनन्त सिद्ध भगवान और संख्यात अरिहन्तों और साधुओं की वन्दना करना और असंख्यात श्रावक-श्राविकाओं तथा सम्यग्दृष्टि जीवों की अनुमोदना करना, उनके प्रति प्रमोद भाव रखना।
- **बोधिदुर्लभ भावना** - बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन। अनादि से अपनी भटकन का यदि कोई कारण है तो वह है सम्यग्दर्शन का अभाव। इससे समझ में आता है कि सम्यग्दर्शन कितना दुर्लभ है। एक आचार्य ने तो यह तक कह दिया है कि वर्तमान काल में सम्यग्दृष्टि अंगुली के पोर पर गिने जा सकें इतने ही होते हैं।
- **धर्मस्वरूप भावना** - वर्तमानकाल में धर्म के स्वरूप में बहुत विकृतियाँ प्रवेश कर चुकी हैं इसलिये सत्यधर्म की शोध और उसका ही चिन्तन करना; सारा पुरुषार्थ उसी में लगाना।

नित्य चिन्तन की कणिकाएँ

- **एक समकित पाये बिना, जप तप क्रिया फोक।**
  जैसा मुर्दा सिंगारना, समझ कहे तिलोक।।

  अर्थात् सम्यग्दर्शन रहित सभी क्रियाएँ, जप, तप, श्रावकपना, क्षुल्लकपना, साधुपना इत्यादि मुर्दे को शृंगारित करने जैसा निरर्थक है। भावार्थ यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना कोई भी क्रिया, जप, तप, श्रावकत्व, क्षुल्लकत्व अथवा साधुत्व भव का अन्त करने में सक्षम नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि सम्यग्दर्शनरहित जीवों को वे करने ही नहीं चाहिये। परन्तु उनसे ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये। उन्हें करके ही अपने को कृतकृत्य न समझकर, सारे प्रयत्न एकमात्र निश्चयसम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये ही करने चाहिये।

- भगवान का दर्शन किस प्रकार करना? भगवान के गुणों का चिन्तन करना और वे भगवान बनने के लिये जिस मार्ग पर चले, उस मार्ग पर चलने का दृढ़ निर्णय करना, यही सच्चा दर्शन है।

- सम्पूर्ण संसार और सांसारिक सुखों के प्रति वैराग्य के बिना मोक्षमार्ग की शुरुआत होनी अत्यन्त दुर्लभ है। संसार और सांसारिक सुखों के प्रति रुचि के रहते सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है।

- जीव को चार संज्ञा, आहार, मैथुन, परिग्रह और भय अनादि से हैं। इन संज्ञाओं का विचार उसे सहज ही होता है। इन विचारों से छुटकारा चाहिये हो तो स्वयं की रुचि तलाशना चाहिये। जब तक ये संज्ञाएँ पसन्द आती हैं या इनमें सुख भासित होता है तब तक उनसे छुटकारा मिलना अत्यन्त कठिन है। जैसे कि कुत्ता हड्डी चूसने पर समझता है कि ख़ून हड्डी में से निकलता है और इसलिये उसे आनन्द आता है। यह उसका भ्रम ही है। इसी तरह जीव अनादि से भ्रम में ही जी रहा है। इस प्रकार जब तक उसे आहार, मैथुन, परिग्रह और भय अर्थात् बलवान का डर और कमज़ोर को डराना/धमकाना भाता है, तब तक उस जीव को इन चीज़ों के विचार सहज ही आते हैं और इसलिये उसके संसार का अन्त नहीं होता। इस कारण मोक्षेच्छु को इन अनादि के उल्टे संस्कारों को जड़ से निकालने का पुरुषार्थ करना चाहिये जिसके लिये सर्वप्रथम इन संज्ञाओं के प्रति आदर छूटना आवश्यक है। इसलिये सारा पुरुषार्थ उनके प्रति वैराग्य हो इसके लिये ही लगाना आवश्यक है। इसके लिये सद्वाचन और सच्ची समझ भी आवश्यक है।
- आपको क्या पसन्द है? यही आत्मप्राप्ति का बैरोमीटर है। इस प्रश्न पर विचार करें। जब तक उत्तर में कोई भी सांसारिक इच्छा/आकांक्षा हो, तब तक अपनी गति संसार की ओर ही समझना और जब उत्तर एकमात्र आत्मप्राप्ति हो तो समझना कि

आपके संसार का किनारा बहुत नज़दीक आ गया है। इसलिये उसके लिये पुरुषार्थ बढ़ाना।

- आप को क्या पसन्द है? यह आपकी भक्ति का बैरोमीटर अर्थात् भक्तिमार्ग की व्याख्या है। जो आपको पसन्द है, उसी ओर आपकी सहज भक्ति समझना। भक्तिमार्ग अर्थात् चापलूसी या व्यक्तिपरक भक्ति नहीं समझना परन्तु जो आपको पसन्द है, जिसमें आपकी रुचि है, उसी ओर आपकी पूरी शक्ति कार्य करती है। इसलिये जिसमें आत्मा की रुचि जगी है और मात्र उसी का विचार आता है, उसी की प्राप्ति के उपायों पर विचार करता है तो समझना कि उसकी भक्ति यथार्थ है। वह सच्चे भक्तिमार्ग पर चल रहा है। इसलिये जब तक आपको क्या पसन्द है, इसके उत्तर में कोई भी सांसारिक इच्छा/आकांक्षा हो अथवा कोई व्यक्ति हो, तब तक अपनी भक्ति संसार की ओर ही समझना और जब उत्तर एकमात्र आत्मप्राप्ति हो तो समझना कि आपके संसार का किनारा बहुत नज़दीक आ गया है। इसलिये संवेग को ही भक्ति समझना, जो कि वैराग्य अर्थात् निर्वेद सहित ही आत्मप्राप्ति के लिये कार्यकारी है।
- अभयदान, ज्ञानदान, अन्नदान, धनदान, औषधिदान इत्यादि दानों में अभयदान अतिश्रेष्ठ है। इसलिये सबको प्रतिदिन जीवन में जयणा (यत्नाचार, प्रत्येक काम में कम से कम जीवहिंसा हो ऐसी सावधानी) रखना अत्यन्त आवश्यक है।

- **प्रश्न** : धन पुण्य से प्राप्त होता है या मेहनत से ?

  उत्तर : धन की प्राप्ति में पुण्य का योगदान अधिक है और मेहनत अर्थात् पुरुषार्थ का योगदान न्यून है। क्योंकि जिसका जन्म धनी परिवार में होता है, उसे तो प्रयत्न किये बिना ही धन प्राप्त होता है। और कुछ लोग व्यापार में बहुत मेहनत करने पर भी धन गँवाते दिखायी देते हैं। धन कमाने के लिये प्रयत्न आवश्यक है परन्तु कितना ? बहुत से लोगों को बहुत अल्प प्रयत्न से अधिक धन प्राप्त होता है, जबकि किसी को बहुत प्रयत्न करने पर भी कम धन प्राप्त होता है। इससे यह निश्चित होता है कि धन प्रयत्न की अपेक्षा पुण्य का वरण करता है। इसलिये जिसे धन के लिये मेहनत करना आवश्यक लगता हो, उसे भी अधिक से अधिक आधा समय ही अर्थोपार्जन में और कम से कम आधा समय तो धर्म में ही लगाना चाहिये। क्योंकि धर्म से अनन्तकाल का दु:ख मिटता है और साथ ही साथ पुण्य के कारण धन भी सहज ही प्राप्त होता है। जैसे गेहूँ बोने पर साथ में घास अपने-आप ही प्राप्त होती है, उसी प्रकार सत्यधर्म करने से पाप हल्के होते हैं और पुण्य तीव्र होते हैं, इससे भवमुक्ति के साथ-साथ धन और सुख अपने आप ही प्राप्त होते हैं। भविष्य में अव्याबाध सुखरूपी मुक्ति मिलती है।

- पुरुषार्थ से धर्म होता है और पुण्य से धन मिलता है। अर्थात् पूरा पुरुषार्थ धर्म में लगाना और धन कमाने में कम से कम समय

गँवाना। क्योंकि धन मेहनत के अनुपात में नहीं मिलता बल्कि पुण्य के अनुपात में मिलता है।

- अनादि से पुद्गल के मोह में और उसी की तलाश में जीव दण्ड पाता आया है। अपने मोह की वजह से वह अनन्त दुःख भोगता आया है। इसलिये शीघ्रता से पुद्गल का मोह छोड़ने योग्य है। लेकिन वह मात्र मौखिक रूप से नहीं, वास्तव में। जैसे कि धर्म की ऊँची-ऊँची बातें करनेवाले भी पुद्गल के मोह में फँसे हुए दिखते हैं। यह जीव अनादि से इसी प्रकार स्वयं को ठगता आया है। इसी लिये सभी आत्मार्थियों से हमारी प्रार्थना है कि आप अपना जीवन अत्यन्त सादगी से जीकर पुद्गल की आवश्यकता घटाने का प्रयास करें। आजीवन सभी प्रकार के परिग्रह की मर्यादा रखें। सन्तोष नितान्त आवश्यक है। सन्तोषी जीव एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य के लिये ही जीवन जी पाता है। सन्तोषी व्यक्ति अपने आप को अनन्त दुःखों से बचा सकता है और अनन्त अव्याबाध सुख प्राप्त कर सकता है।
- कर्मों का जो बन्ध होता है, उसके उदयकाल में आत्मा के कैसे भाव होंगे अर्थात् उन कर्मों के उदयकाल में नये कर्म कैसे बन्धेंगे, उसे अनुबन्ध कहते हैं; वह अनुबन्ध, अभिप्राय का फल है। इसलिये सारा पुरुषार्थ अभिप्राय बदलने में लगाना अर्थात् उसे सम्यक् करने में लगाना।

- स्वरूप से मैं सिद्धसम हूँ लेकिन राग-द्वेष मुझपर कलंक समान हैं, इसलिये उन्हें धोने के (मिटाने के) ध्येय से दृढ़ता और धैर्य से धर्मरूपी पुरुषार्थ करना।
- सन्तोष, सरलता, सादगी, समताभाव, सहिष्णुता, सहनशीलता, नम्रता, लघुता, विवेक, इन गुणों का जीवन में होना अत्यन्त आवश्यक है।
- तपस्या में नौ बाड़ विशुद्ध ब्रह्मचर्य अतिश्रेष्ठ है।
- सांसारिक जीव निमित्तवासी होते हैं। नियम से उपादान में ही कार्य का परिणमन होता है परन्तु उस उपादान में कार्य हो, तब निमित्त की उपस्थिति अविनाभावी होती ही है। इसलिये मुमुक्षु जीव विवेक से समझता है कि कार्य भले उपादान में हो परन्तु इस कारण से उन्हें स्वच्छन्दता से किसी भी खोटे निमित्त के सेवन की अनुमति नहीं मिल जाती। इसी लिये वे ओछे निमित्तों से भीरू भाव से दूर ही रहते हैं।
- साधक आत्मा के लिये टी.वी., सिनेमा, नाटक, मोबाईल, इंटरनेट इत्यादि ओछे निमित्तों से दूर रहना आवश्यक है। क्योंकि अच्छे से अच्छे भावों को भी पलटने में देरी नहीं लगती। दूसरे, ये सभी ओछे निमित्त अनन्त संसार अर्थात् अनन्त दुःख की प्राप्ति के कारण बनने में सक्षम हैं।
- कोई भी प्रत्याख्यान-पच्चक्खाण धारणा अनुसार, सीमन्धर

भगवान् की साक्षी से तीन नमस्कार मन्त्र बोलकर लेना और प्रत्येक प्रत्याख्यान में अज्ञानता के, असमाधि के, तबियत के निमित्त से दवा के और अन्य कोई भी उपसर्ग के, इस प्रकार के आगार रखना। कोई भी प्रकार के प्रत्याख्यान ख़त्म करने की विधि इस प्रकार है - जो प्रत्याख्यान लिया था वह पूर्ण होने पर पालता हूँ। समकायनं, न फासियेनं न पालियं, न तिरियं, न किट्टियं, न सोहियं, न आराहियं, आणाए अणुपालियं, न भवयि तस्स मिच्छामि दुक्कडं ! तीन बार नमस्कार मन्त्र बोलना।

- माता-पिता के उपकारों का बदला अन्य किसी भी प्रकार से चुकाया नहीं जा सकता। केवल उन्हें धर्मप्राप्ति करवाकर ही चुकाया जा सकता है। इसलिये माता-पिता की सेवा करना। माता-पिता का स्वभाव अनुकूल न हो तो भी उनकी पूरी-पूरी सेवा करना और उन्हें धर्म प्राप्त करवाना। इसके लिये पहले स्वयं धर्मप्राप्ति करना आवश्यक है।

- धर्म लज्जित न हो, इसलिये ख़ास तौर पर सभी जैनों को अपने परिवार में, व्यवसाय में, दुकान, ऑफ़िस इत्यादि में तथा समाज में अपना व्यवहार अच्छा ही हो, इसका ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है।

- अपेक्षा, आग्रह, आसक्ति, अहंकार निकाल देना अत्यन्त आवश्यक है।

♦ स्वदोष देखो, परदोष नहीं। परगुण देखो और उन्हें ग्रहण करो, यह अत्यन्त आवश्यक है।

♦ अनादि की इन्द्रियों की ग़ुलामी छोड़ने योग्य है।

♦ जिस इन्द्रिय के विषय में जितनी ज़्यादा आसक्ति और जिस इन्द्रिय का दुरुपयोग ज़्यादा, उतनी वे इन्द्रियाँ भविष्य में अनन्तकाल तक नहीं मिलने की सम्भावना ज़्यादा है।

♦ मेरे अपने क्रोध, मान, माया तथा लोभ मेरे कट्टर शत्रु हैं। बाक़ी विश्व में मेरा कोई शत्रु है ही नहीं।

♦ एक-एक कषाय अनन्त परावर्तन कराने में सक्षम है। यदि मुझमें उन कषायों का वास है तो मेरा क्या होगा? इसलिये शीघ्रता से सभी कषायों का नाश चाहना और उसी का पुरुषार्थ करना चाहिये।

♦ अहंकार और ममत्व अनन्त संसार के कारण होने में सक्षम हैं; इसलिये उनसे बचने का उपाय करना।

♦ केवल अपनी निन्दा करना यानी अपने दुर्गुणों की ही करना। दूसरों के दुर्गुण देखकर सर्वप्रथम अपने भाव जाँचना और यदि वे दुर्गुण अपने में हों तो निकाल देना और उनके प्रति उपेक्षाभाव अथवा करुणाभाव रखना, क्योंकि दूसरे की निन्दा से तो हमें बहुत कर्मबन्ध होता है। कोई भी दूसरे के घर का कचरा अपने घर में नहीं लाता। इसी प्रकार दूसरे की निन्दा करने से उसके कर्म साफ़

होते हैं और हमें कर्मों का बन्ध होता है।

- ईर्ष्या करनी हो तो मात्र भगवान से ही करना। केवल भगवान बनने के लिये भगवान से ईर्ष्या करना, अन्यथा नहीं। इसके अतिरिक्त किसी से भी ईर्ष्या करने से अत्यन्त दु:ख देनेवाले अनन्त कर्मों का बन्ध होता है और जीव वर्तमान में भी दु:खी रहता है।

- जागृति हर समय रखना अथवा हर घण्टे अपने मन के परिणामों की जाँच करते रहना। मन का झुकाव किस ओर है वह देखना और उसमें आवश्यक सुधार करना। लक्ष्य एकमात्र आत्मप्राप्ति का ही रखना और वही भाव दृढ़ करते रहना।

- अनन्त काल तक रहने के दो ही स्थान हैं। एक सिद्ध अवस्था और दूसरा निगोद। पहले में अनन्त सुख है और दूसरे में अनन्त दु:ख। इसलिये अपने भविष्य को लक्ष्य में रखकर सभी को अपने सारे प्रयत्न/पुरुषार्थ एकमात्र मोक्ष के लिये ही करने चाहिये।

- मेरे साथ जो भी होता है वह अच्छे के लिये ही होता है ऐसा मानना। इससे आर्तध्यान और रौद्रध्यान से बचा जा सकता है। अर्थात् नये कर्मों के आस्रव से बचा जा सकता है।

- **प्रश्न** : मैं किसका पक्ष लूँ? किस सम्प्रदाय को अथवा किस व्यक्तिविशेष को अपना मानूँ?

  उत्तर : मात्र अपना ही अर्थात् अपनी आत्मा का ही पक्ष लेना, क्योंकि उसी में मेरा कल्याण/उद्धार है। अन्य किसी का पक्ष नहीं

लेना, क्योंकि उसमें मेरा उद्धार नहीं है। बिलकुल नहीं है। पक्ष लेना ही तो राग-द्वेष का कारण है। जब केवल अपनी आत्मा का पक्ष लिया जाये तब उसमें सभी ज्ञानियों का पक्ष समाहित हो जाता है।

♦ कम से कम जैनों को रात्रि के कोई भी कार्यक्रम-भोजन-समारम्भ नहीं रखने चाहिये। किसी भी प्रसंग में फूल और आतिशबाज़ी का उपयोग नहीं करना चाहिये।

♦ विवाह साधक के लिये मजबूरी तो हो सकती है, महोत्सव नहीं। जो साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य न पाल सकते हों, उनके लिये विवाह व्यवस्था का सहारा लेना योग्य है, जिससे साधक अपना संसार, निर्विघ्न श्रावक धर्म के अनुसार व्यतीत कर सके और अपनी मजबूरी भी योग्य मर्यादा सहित पूरी कर सके। ऐसे विवाह का महोत्सव नहीं होता क्योंकि कोई अपनी मजबूरी को उत्सव बनाकर, महोत्सव नहीं करता। इसलिये साधक को विवाह बहुत ज़रूरी हो तो ही करना चाहिये और वह भी बड़ी सादगी से। दूसरा, यहाँ बताये अनुसार विवाह को मजबूरी समझकर विवाह दिवस इत्यादि का महोत्सव करना योग्य नहीं। बल्कि उस दिन विशेष धर्म करने योग्य है और ऐसी भावना भाएँ कि मुझे यह विवाहरूपी मजबूरी भविष्य में कभी न हो, जिससे मैं शीघ्रता से आत्मकल्याण कर सिद्धत्व प्राप्त करुँ।

♦ जन्म तो आत्मा को अनादि का लगा हुआ भवरोग है न कि

महोत्सव। जिसका जन्म है, उसका मरण अवश्य है और जन्म मरण का दु:ख अनन्त होता है। इसलिये जब तक आत्मा का जन्म मरणरूपी चक्रवात चलता रहता है, तब तक उसे अनन्त दु:खों से छुटकारा नहीं मिलता। प्रत्येक जीव को एकमात्र सिद्धत्व अर्थात् जन्म-मरण से सदा के लिये छुटकारे की इच्छा रखनी चाहिये। इसलिये ऐसे जन्म का महोत्सव नहीं होना चाहिये क्योंकि कोई अपने रोग का उत्सव बनाकर महोत्सव नहीं करता। इसलिये साधक को यहाँ बताये अनुसार जन्म को अनन्त दु:ख का कारण यानी भवरोग समझकर जन्मदिवस इत्यादि का महोत्सव मनाना नहीं चाहिये। उस दिन तो विशेष धर्म करने योग्य है। ऐसी भावना भाएँ कि अब मुझे यह जन्म, जो कि अनन्त दु:खों का कारण भवरोग है, भविष्य में कभी भी न मिले। साधक को एकमात्र सिद्धत्व की प्राप्ति के लिये, अजन्मा बनने के लिये ही सारा पुरुषार्थ करना चाहिये।

♦ **प्रश्न** : छद्मस्थ आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त कर्मवर्गणायें होने से वे अशुद्ध आत्मा के रूप में ही परिणमित होती हैं, तो उस छद्मस्थ आत्मा में शुद्धात्मा कहाँ रहती है ?

उत्तर : भेदज्ञान से (प्रज्ञाछैनी से) अर्थात् जीव के लक्षण से जीव को ग्रहण करना और पुद्गल के लक्षण से पुद्गल को। फिर वैराग्यादि योग्यतासहित उसमें प्रज्ञारूपी छैनी से (तीव्र बुद्धि से)

विभाव को गौण करके भेदज्ञान होते ही शुद्धात्मा प्राप्त होती है।

- यदि कोई कहे कि आत्मा बाहर से अशुद्ध और अन्दर से शुद्ध है तो ऐसा कथन अपेक्षा से समझना, एकान्त से नहीं। आत्मा जैसी बाहर है, वैसी ही अन्दर है। आत्मा के अन्दर के और बाहर के प्रत्येक प्रदेश/क्षेत्र में अनन्तानन्त कार्माणवर्गणायें क्षीरनीरवत् लगी हुई होने से, जैसी अशुद्धि बाहर के क्षेत्र में है, वैसी ही अशुद्धि अन्दर के क्षेत्र में भी है। अपेक्षा से बाहर अर्थात् विशेषभाव (विभावभाव) और अन्दर अर्थात् सामान्यभाव (परमपारिणामिकभाव) जो तीनों काल में शुद्ध ही है और इसी लिये व्यक्त आत्मा अशुद्ध और अव्यक्त आत्मा शुद्ध है। इसी अपेक्षा से आत्मा को अन्दर से शुद्ध और बाहर से अशुद्ध कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। कोई आत्मा में अन्दर एकान्त शुद्ध ध्रुवभाव खोजता हो तो वैसा एकान्त शुद्ध ध्रुवभाव आत्मा में नहीं है। कोई भी कथन उसकी अपेक्षा से ही समझना अनिवार्य है, नहीं तो ऐसा माननेवाले नियम से भ्रम में ही रहेंगे।
- नौ तत्त्वों से भिन्न सर्वथा शुद्ध द्रव्य की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिये किसी को ऐसे भ्रम में रहने की आवश्यकता नहीं है कि पर्याय से भिन्न सर्वथा शुद्ध द्रव्य उपलब्ध होगा, क्योंकि साधन का अभाव होने से उस शुद्ध द्रव्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। मात्र नौ तत्त्व सम्बन्धी विकारों को कम/गौण करते ही वह शुद्धात्मा है।

- **प्रश्न** : बहुत साधकों का प्रश्न होता है कि जब आपको आत्मा का अनुभव हुआ तब क्या हुआ था ?

  उत्तर : स्वात्मानुभूति के काल में शरीर से भिन्न ऐसी सिद्धसदृश आत्मा का आंशिक अनुभव होता है, जिसमें शरीर का किसी भी प्रकार का अनुभव नहीं होता। बहुत साधक हमें प्रश्न करते हैं कि हमें प्रकाशमय आत्मा का अनुभव हुआ अथवा कोई कहता है कि हम एकदम हल्के फूल जैसे हो गये ऐसा अनुभव हुआ। अथवा कोई कहता है कि हम रोमांचित हो उठे, इत्यादि। ऐसे साधकों को हम बताते हैं कि ऐसे भ्रमों से ठगा जाना योग्य नहीं क्योंकि स्वात्मानुभूति के काल में शरीर का किसी भी प्रकार का अनुभव होता ही नहीं, सिर्फ़ और सिर्फ़ सिद्धसदृश आत्मा का अनुभव होता है। आंशिक सिद्धसदृश आनन्द का अनुभव होता है अर्थात् आंशिक सिद्धत्व का ही अनुभव होता है। यह अनुभव इतना स्पष्ट होता है कि फिर आत्मा के बारे में कोई भी प्रश्न बचता ही नहीं। सब कुछ स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है। स्वात्मानुभूति के बाद शरीर के प्रति भेदज्ञान वर्तता है। स्वानुभूति के बाद आप जब भी दर्पण के सामने जाते हैं तब ऐसा लगता है कि आप किसी दूसरे व्यक्ति को देख रहे हैं।

- कोई ऐसा माने कि मुमुक्षु जीव की योग्यता उसके काल पकने पर स्वयमेव हो जायेगी, उसके लिये प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है;

तो उससे हम प्रश्न करते हैं कि क्या आप पैसा, प्रतिष्ठा, परिवार इत्यादि पाने के लिये प्रयत्न करते हैं ? या फिर आप कहते हैं कि वे काल पकने पर अपने आप आ जायेंगे ? तब उत्तर अपेक्षित ही मिलता है कि हम उसके लिये प्रयत्न करते हैं। तो फिर हम उनसे प्रश्न करते हैं कि जो वस्तु अथवा संयोग कर्मानुसार अपने आप आकर मिलनेवाली है, उसके लिये आप बहुत ज़बरदस्त प्रयत्न करते हैं परन्तु आत्मा के हित के लिये पहले बताये अनुसार सत्य आचरण जीवन में उतारने में उपेक्षा करते हैं तो आप जैनसिद्धान्त की अपेक्षा न समझकर उसे ग़लत समझे हैं। जैन सिद्धान्तानुसार कोई भी कार्य होने के लिये पाँच समवायों का होना आवश्यक है और उनमें आत्मस्वभाव में पुरुषार्थ उपादान कारण होने से यदि आप उसे गौण करके मात्र निमित्त की राह देखते बैठे रहेंगे अथवा नियति से आशा लगाये बैठे रहेंगे तो आत्मप्राप्ति अत्यन्त कठिन है। प्रत्येक मुमुक्षु को अपना पुरुषार्थ अधिक से अधिक आत्मधर्मक्षेत्र में करना आवश्यक है। थोड़ा सा (अल्प) ही काल जीवन की आवश्यकताओं को अर्जित करने में लगाना है।

इस पुस्तक में हमसे कोई भी भूल हुई हो तो आप सुधारकर पढ़ें। हमसे जिनाज्ञा विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो हमारा त्रिविध त्रिविध मिच्छामि दुक्कडं। उत्तम क्षमा।

ॐ शान्तिः! शान्तिः! शान्तिः!

निश्चय-व्यवहार की यथार्थ सन्धि

१. हम लोग निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि न समझने के कारण से ही अनादि से संसार में रुल रहे हैं। वर्तमान में भी समाज की प्राय: यही स्थिति दिख रही है।

२. निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि का मतलब यह है कि हमें कहीं प्रवास में जाना होता है तब हम सिर्फ़ नक़्शा नहीं देखते। एक बार नक़्शे को समझ लेने के बाद हम प्रवास शुरु कर देते हैं। अगर प्रवास शुरु नहीं किया तो नक़्शा देखने का मक़्सद पूरा नहीं होगा। नक़्शा निश्चय है और प्रवास व्यवहार।

३. निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि का मतलब यह है कि दोनों का यथायोग्य प्रमाण में सेवन करना। किसी एक का भी अधिक मात्रा में सेवन करने से या किसी एक का भी पक्ष रखने से वह निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि नहीं बन पायेगी।

४. निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि का मतलब यह है कि हम जब सब्ज़ी बनाते हैं तब उसमें नमक उचित मात्रा में ही डालना होता है। अगर सब्ज़ी में नमक कम होगा तो वह फीकी लगेगी और ज़्यादा होगा तो वह खाने लायक ही नहीं रहेगी। नमक निश्चय है और सब्ज़ी व्यवहार। इसलिये यह समझना है

कि अपनी साधना में निश्चय और व्यवहार का योग्य संयोजन आवश्यक है।

५. निश्चय और व्यवहार के योग्य संयोजन में निश्चय सब्ज़ी में नमक की भाँति योग्य मात्रा में ही होना आवश्यक है। कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण सिर्फ़ निश्चय को ही सच्चा मानकर और व्यवहार को झूठा मानकर अकेले निश्चय का ही सेवन करते रहते हैं। यह इस हुण्डा अवसर्पिणी कलिकाल का ही प्रभाव है कि वे भ्रमवश सब्ज़ी को छोड़कर अकेले नमक खाने की ही प्ररूपणा करते हैं। हम सोच भी नहीं सकते हैं कि उनकी क्या दशा होगी। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

६. वर्तमान में कई लोग भ्रमवश अध्यात्म के नाम पर अकेले निश्चयनय का ही प्रतिपादन करते हैं और उसी से अनेकों की ज़िन्दगियों को बर्बाद करके उन्हें अनन्तकाल तक संसार में रुलाने के लिये ज़िम्मेदार हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

७. प्रश्न: साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु निश्चय और व्यवहार के योग्य संयोजन में कितना निश्चय आवश्यक है?

उत्तर: साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या समझना अति आवश्यक है। शुद्धात्मा की अनुभूति से ही निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। यही सम्यग्दर्शन का सही

और अनुभवसिद्ध मानक है। इसे समझना और ऐसा लक्ष्य तय करना अत्यन्त आवश्यक है।

८. यह वर्तमान हुण्डा अवसर्पिणी कलिकाल का ही प्रभाव है कि कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या का ही विरोध करते हैं और अपने ही मोक्षमार्गप्रवेश में बाधा बनते हैं। वे जीवनभर बाह्यचारित्र की आराधना करके भी मोक्षमार्ग से वंचित रह जाते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

९. प्रश्नः साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु आत्मस्वरूप की जानकारी कितनी आवश्यक है ?

उत्तर: साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या समझ में आ जाये उतनी आत्मस्वरूप की जानकारी होनी आवश्यक है। दरअसल अगर आत्मा में सम्यग्दर्शन के लिये आवश्यक वैराग्यादि योग्यता होती है तभी अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति होकर निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। तब उसे स्वभाव का आंशिक अनुभव भी होता है, यह समझना अति आवश्यक है।

१०. प्रश्न: आप यह क्यों कह रहे हैं कि साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या समझ में आ जाये उतनी ही आत्मस्वरूप की जानकारी आवश्यक है ?

उत्तर:क्योंकि "मैं शुद्धात्मा हूँ", "मैं परम अकर्ता हूँ" इस प्रकार की स्वरूप की बौद्धिक जानकारी के बिना तो साधक को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है परन्तु बिना आवश्यक वैराग्यादि योग्यताओं के कभी भी नहीं होता। यह बात एकदम पक्की है कि अधिकारीपन (पात्रता) पाये बिना कभी भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता क्योंकि सम्यग्दर्शन बहिरात्मभाव में कभी नहीं होता, उसके लिये आत्मसन्मुखता (पर-विमुखता) प्राप्त करना परम आवश्यक है।

११.प्रश्नः आत्मसन्मुखताप्राप्ति हेतु "मैं शुद्धात्मा हूँ", "मैं परम अकर्ता हूँ" इस प्रकार की आत्मस्वरूप की बौद्धिक जानकारी की आवश्यकता क्यों नहीं है?

उत्तरः क्योंकि आत्मसन्मुखता परविमुखता से आती है और परविमुखता तो आत्महित सर्वोपरि के सिद्धान्त को आत्मसात करने पर ही आती है! आत्महित सर्वोपरि का सिद्धान्त बिना अपने बाँट और तराज़ू (सफलता के पैमाने/मूल्याङ्कन के मानक) बदले समझ में नहीं आता। उसे समझने के लिये बारह भावनाओं का प्रयोगात्मक चिन्तन आवश्यक है न कि आत्मस्वरूप की बौद्धिक जानकारी, क्योंकि हमने अनेकों बार नौ पूर्वों तक का अध्ययन किया है जिनमें आत्मस्वरूप की बौद्धिक जानकारी का भण्डार भरा हुआ है मगर उससे भी हमारा कल्याण नहीं हुआ। बल्कि उससे तो स्वयं शुद्धात्मा होने का भ्रम

(निश्चयाभास) भी हो सकता है। इसलिये हम अभी तक संसार में भटक रहे हैं।

१२. प्रश्न: हमने तो सुना है कि सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु कल्पनाजनित आत्मस्वरूप में रमने की आवश्यकता है। आप मना क्यों कर रहे हैं?

उत्तर: मना इसलिये कर रहे हैं क्योंकि अज्ञानी नियम से पर्याय का ही वेदन करता है। इसलिये वह जब भी शुद्ध आत्मस्वरूप में रमने का प्रयास करता है तब उसकी कल्पना अपनी पर्याय में ही करेगा। वह अपनी पर्याय को ही अपना त्रिकाली स्वरूप मानकर भ्रमवश उसी का वेदन करने का प्रयास करेगा। जबकि अभी पर्याय तो त्रिकाली स्वरूप जैसी है ही नहीं। इसलिये वह भ्रमवश जो शुद्ध आत्मस्वरूप नहीं है उस कल्पनाजनित भ्रम में रमने का ही प्रयास करेगा जो कि आत्मप्राप्ति में ज़रा भी कार्यकारी नहीं है। इसे निश्चयाभास कहा जाता है। निश्चयाभास तो उसे भ्रम में ही रखने का काम करेगा जो कि सम्यग्दर्शनप्राप्ति में बहुत बड़ी बाधा है। निश्चयाभास उसके सम्यक् पुरुषार्थ का छेदन कर देगा। निश्चयाभास के रहते परसन्मुखता कभी छूट ही नहीं सकती इसलिये हम अज्ञानी को बौद्धिक स्वरूप के कल्पनाजनित भ्रम में रमने को मना कर रहे हैं।

१३. कई लोग यह सोचकर कि हमारा व्यवहार तो ठीक है अब हमें सिर्फ़ निश्चय को ही ग्रहण करना शेष है, अकेले बौद्धिकरूप

निश्चय का ही भरपूर सेवन करने लगते हैं। उन्हें पता ही नहीं है कि यदि आत्मानुभूति का लक्ष्य न हो तो व्यवहार भी व्यवहाराभास कहा जाता है। जिसे एकमात्र आत्मप्राप्ति का ही लक्ष्य हो उसके बाँट और तराज़ू (सफलता के पैमाने/मूल्याङ्कन के मानक) अपने आप बदल जाते हैं। मूल्याङ्कन के बाँट और तराज़ू बदलने से साधक को बाहरी जगत का सब कुछ असार और निरर्थक लगने लगता है और वह स्वयमेव अपनी अत्यन्त मूल्यवान आत्मा के सन्मुख होने लगता है। आत्मप्राप्ति की यही रीति है। उसके लिये बौद्धिक निश्चय के अतिरेक की कोई आवश्यकता नहीं। हाँ, जिसने निश्चयनय को विपरीत रूप से ग्रहण किया हो उसे सम्यक् निश्चय समझना आवश्यक है।

१४. सम्यक् निश्चय यानी आत्मस्वरूप का जो वर्णन है वह मैं अभी भी प्रकट (अनुभव) कर सकता हूँ, मगर अभी पर्याय में ही वैसा हूँ - ऐसा नहीं है। अगर पहली कक्षा में पढ़नेवाला विद्यार्थी भ्रम से स्वयं को डॉक्टर मानने लगे तो फिर वह आगे पढ़ेगा ही क्यों? वह या तो पढ़ना ही छोड़ देगा या फिर पढ़ाई के प्रति निरुत्साहित हो जायेगा। यही हाल निश्चयनय को ग़लत ढंग से समझनेवालों का है। वे अपने को भ्रम से शुद्ध, अकर्ता, अभोक्ता, ध्रुव, ज्ञाताद्रष्टा, साक्षी, परमपुरुष, सिद्धसम, मुक्त मानने की बातें करते हैं। ऐसा करके वे लोग निश्चयाभासी बनकर अपनी इस ज़िन्दगी को बर्बाद करके अनन्तकाल तक अपने को संसार में

रुलाने (भटकाने) के लिये स्वयं ज़िम्मेदार होते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

१५. असल में अनेक शास्त्रों में जो भी निश्चयनय का विस्तार है, वह ज्ञानी के कल्लोल (आनन्द) के लिये है। वह विस्तार ज्ञानी को अपनी अनुभूति जाँचने के लिये और सिद्धसम आत्मा में ठहर जाने की प्रेरणा देने के लिये है। अज्ञानी भी उसे पढ़कर ज्ञानी की दशा समझ सकते हैं मगर कई अज्ञानी भ्रमवश स्वयं को वैसा मानने की भूल कर बैठते हैं। वे ऐसा ही प्रचार करके बहुतों की ज़िन्दगियाँ बर्बाद कर उन्हें अनन्तकाल तक संसार में रुलाने (भटकाने) के लिये ज़िम्मेदार होते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

१६. कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण निश्चयनय का ही प्रचार प्रसार करते देखे जाते हैं क्योंकि उन्हें उसके नुक़सान नहीं मालूम। वे स्वयं भी अज्ञानवश इस बात से अनभिज्ञ रहते हैं इसलिये जाने-अनजाने में वे अपने और दूसरों के अनन्तकाल तक पतन के लिये ज़िम्मेदार बनते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

१७. कई लोग निश्चयनय से भ्रमवश स्वयं को शुद्ध मानते हुए अपने राग-द्वेष के लिये स्वयं को ज़िम्मेदार न मानते हुए कर्मों को ही ज़िम्मेदार मानते हैं और स्वछन्दता से जीते हैं। ऐसी ग़लत

प्ररूपणा से वे अपने और दूसरों के अनन्तकाल तक पतन के लिये ज़िम्मेदार बनते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

१८. शुद्ध निश्चयनय से जीव भगवान जैसा है। अगर हम अभी वर्तमान दशा (पर्याय) में ही भ्रमवश स्वयं को भगवान मानने लग जायें तो वह पहली कक्षा के छात्र द्वारा अपने को डॉक्टर मानने जैसा ही होगा। यह बात नहीं समझने से ही यह ग़लतफ़हमी फैल रही है। ऐसी ग़लत प्ररूपणा की वजह से लोग अपने और दूसरों के अनन्तकाल तक पतन के लिये ज़िम्मेदार बनते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

१९. शुद्ध निश्चयनय भगवान का स्वरूप बताने और हम भी वैसे बन सकते हैं यह बताने के लिये है। हम स्वरूप से अभी वैसे ही हैं कहने का अर्थ है कि हम भी वैसे बन सकते हैं, हममें वह सम्भावना विद्यमान है। शुद्ध निश्चयनय का मक़्सद अज्ञानी को प्रोत्साहित करना, उसका लक्ष्य तय कराना तथा ज्ञानी को उसका बार-बार अनुभव कराना है।

२०. कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण कहते हैं कि "मैं शुद्धात्मा हूँ", "मैं परम अकर्ता हूँ" इत्यादि स्वरूप की जानकारी को बौद्धिकरूप से घोंटने (बार-बार पक्का करने) से यानी उसका बौद्धिकरूप से बार बार मनन-चिन्तन करने से हमें उसकी प्राप्ति

हो सकती है या तो उसकी प्राप्ति आसान बन जाती है। हम कहते हैं कि स्वरूप का मनन-चिन्तन करें या न करें लेकिन आप अगर सम्यग्दर्शन के लिये वैराग्यादि आवश्यक योग्यता प्राप्त कर लेंगे तो आपके लिये स्वरूप की अनुभूति सरल हो जाती है। बौद्धिकरूप से स्वरूप के अधिक मनन चिन्तन से तो कभी-कभी भ्रम यानी निश्चयाभास होने का ख़तरा भी बना रहता है।

२१. कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण हमें पूछते हैं कि मैं वर्तमान में भी स्वरूप से तो में शुद्ध ही हूँ न? तब हम उन्हें बताते हैं कि स्वरूप से तो आप त्रिकाल शुद्ध ही हैं। उनको लगता है कि हम उनकी मान्यता का ही समर्थन कर रहे है क्योंकि उन्हें हमारे कथन का गूढ़ार्थ समझ में नहीं आता। जब हम कहते हैं कि स्वरूप से तो सभी जीव त्रिकाल शुद्ध ही हैं तब हम त्रिकाली ध्रुव (शुद्ध निश्चयनय) की बात कर रहे हैं यानी शुद्ध द्रव्य की बात कर रहे हैं। जिसे वे भ्रम (कल्पना) से वर्तमान में अपनी स्थिति मान लेते हैं, उसे पर्याय में घटाते हैं। उन्हें त्रिकाली ध्रुव का अनुभव तो है नहीं इसलिये वे इस बात को वर्तमान में घटाकर वैसा, अपनी पर्याय में ही भ्रम (कल्पना) से मानने लग जाते हैं। अपने आप को वर्तमान में ही भ्रमवश शुद्ध मानने लगते हैं, जो बहुत ही बड़ी भूल है। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

युनिवर्सल लॉ - सभी जीवों पर समान रूप से लागू होनेवाली ब्रह्माण्ड की सनातन संचालन व्यवस्था

संकलन - CA जयेश शेठ ● www.jayeshsheth.com

- मैंने जो दिया था वही मुझे मिल रहा है। मैं जो दूसरों के लिये चाहूँगा वही मेरे साथ होगा।
- मैं आत्मा हूँ। यह शरीर मुझे मिला हुआ किरदार है। आम तौर पर हमने जिसकी कामना की थी, वही किरदार हमें मिलता है।
- मेरे साथ जो भी घट रहा है वह मेरे भूतकाल का ही प्रतिबिम्ब है। वह मेरे भूतकाल के कर्मों का फल है। मैंने जो कार्य मन-वचन-काय से न किया न करवाया न अनुमोदित किया है, वह मेरे साथ कभी भी घटनेवाला नहीं है।
- इससे यह बात तय है कि मेरे साथ भूत, वर्तमान या भविष्य में कभी भी अन्याय न हुआ है न होगा। इसलिये मैं 'No Complaint Zone' 'शिकायतमुक्त भाव' में रह सकता हूँ। मेरे साथ जो भी होता है वह मेरे भूतकाल के कारण ही होता है। इसलिये मेरे साथ ही क्यों ?' यह सवाल उठता ही नहीं।
- मैं पुण्य करके और सप्तव्यसन (जुआ, शराब, मांसभक्षण, वेश्यागमन, चोरी, शिकार, परस्त्रीगमन या परपुरुषगमन), तथा कन्दमूल सेवन, रात्रिभोजन और अभक्ष्यभक्षण (अचार, मधु, अंजीर, मक्खन, इत्यादि) से मुक्त रहकर अपना सौभाग्य स्वयं निर्मित कर सकता हूँ। जिस प्रकार हम संसार में लाभ बढ़ाते हैं और नुक़सान घटाते हैं वैसे ही समझना है।
- यह समीकरण याद रखना है। पाप = दु:ख, पुण्य = सुख।
- मुझे दु:ख से भी फ़ायदा उठाने का तरीक़ा सीखना है।
- मैं यहाँ सिर्फ़ देने के लिये आया हूँ - वह भी बिना किसी शर्त या अपेक्षा के।

इस तरह देकर मैं अपना पिछला क़र्ज़ (loan) चुका रहा हूँ या फिर नयी निधि (fixed deposit) जमा कर रहा हूँ। दोनों परिस्थितियों में फ़ायदा मेरा ही है।

- मुझे अपना फ़र्ज़ पूरे जोश से बग़ैर किसी अपेक्षा के निभाना है। बाक़ी सभी ऐसा करें यह आग्रह भी नहीं रखना है। हम सभी को अपने परिवार, मित्र, सहयोगियों, समाज और राष्ट्र के प्रति अपना कर्तव्य पूरी निष्ठा से निभाना है।
- मुझे अपने साथ सख़्त और दूसरों के साथ मृदु/दयालू रहना है।
- मेरे साथ जो भी हो रहा है वह अच्छे के लिये ही हो रहा है। अगर मैं यह मान लूँ तो हमेशा सकारात्मक बना रहूँगा।
- लोगों के साथ चार प्रकार से पेश आना है -

१. **मैत्री भाव -** सभी जीवों से कल्याण मैत्री रखना। किसी से भी दुश्मनी न होने के कारण हमारी प्रसन्नता बनी रहेगी। मित्रों का भला चाहने से अपना भला सुनिश्चित होता है। इससे अपना वर्तमान और भविष्य दोनों सुधरते हैं।

२. **प्रमोद भाव -** दूसरे के गुण देखने से वे गुण मुझमें प्रकट होंगे। दूसरे के अवगुण देखकर स्वयं को सुधारना है।

३. **करुणा भाव -** पापी के प्रति करुणा रखना क्योंकि उन्हें ब्रह्माण्ड के नियम की जानकारी नहीं है। उससे अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी और हम नये कर्मों के आस्रव से बच जायेंगे।

४. **माध्यस्थ्य भाव -** कोई प्रतिक्रिया नहीं। जब मुझे कोई आहत करे तब मुझे शान्त रहना है। मन में Thank you! Welcome! धन्यवाद! स्वागतम्!' करना। इस धन्यवाद स्वागतम् के भी तीन चरण हैं।

प्रथम चरण - पाप के उदय के कारण अपनी भूतकाल की भूलों के लिये माफ़ी माँगना। (Sorry! Sorry!).

द्वितीय चरण - नये कर्मों से बचने के लिये दोबारा ऐसी भूल कभी नहीं करूँगा यह तय करना। (Never again!).

तृतीय चरण - सामनेवाले को अपने कर्मों को साफ़ करनेवाला और उपकारी मानकर मन में धन्यवाद देना। (Thank you!) इससे हमें उसके प्रति ग़ुस्सा, घृणा या तुच्छता के भाव नहीं आयेंगे। जिससे हम ग़ुस्सा, घृणा या तुच्छता के विषचक्र से बच जायेंगे। यह तीनों चरण हमारी प्रसन्नता के लिये रक्षाकवच हैं। इसलिये यह सिद्धान्त स्वागत योग्य है। (Welcome !) इस तरह मैं स्वयं को नकारात्मक भावों से बचाकर सकारात्मक सोच रख सकता हूँ।

Thank you! अग्निशमन का काम करता है, इसलिये उसका उपयोग पहले करना है। तीनों चरणों का उपयोग प्रतिक्रमण की तरह बाद में करना है।

- अपनी सोच समझपूर्वक बदलनी चाहिये, न कि बलपूर्वक। इससे अपनी प्रसन्नता भंग नहीं होती। इसी लिये हमारा मार्ग 'सहजयोग' का है, 'हठयोग' का नहीं।
- इस जीवन में मुझे अपने शरीर और मन का उपयोग कर संसार से मुक्ति हेतु सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है। इसलिये हमारा पहला ध्येय सम्यग्दर्शन प्राप्ति का ही होना चाहिये।
- आहार, मैथुन, भय, परिग्रह नामक चार संज्ञाएँ हमें संसारभ्रमण में उलझाये रखती हैं। इसे भलीभाँति समझकर उनके प्रति हमारी प्रबल आसक्ति को मन्द करना है।
- सत्य हमारे भीतर है। उसे कहीं बाहर ढूँढने की आवश्यकता नहीं है। हमें स्वयं को अन्दर से बदलने की आवश्यकता है।

- जिन्होंने सत्य प्राप्त किया हो वही मार्ग बता सकते हैं। वैसे लोग यश, कीर्ति, धन, वैभव, सम्मान, इत्यादि के पीछे नहीं भागते। वे सुर्ख़ियों से दूर रहकर सच्चे साधकों को व्यक्तिगत मार्गदर्शन देते हैं।
- सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु हमें सदैव सत्य स्वीकारने को तैयार (ready to accept) और स्वयं को बदलने को तैयार (ready to change) रहना चाहिये। सम्यग्दर्शन के लिये संसार की इच्छा, आकांक्षा, अपेक्षा छोड़ना नितान्त आवश्यक है। क्योंकि वही संसार का इंजन है। घर, परिवार, धन इत्यादि छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। संसार की इच्छा, आकांक्षा, अपेक्षा छोड़ने के लिये हमें स्वयं को हर दो घण्टे में जाँचते रहना चाहिये और बारह भावनाओं का चिन्तन करके सांसारिक इच्छाओं को मूल से निरस्त करना है। आत्मसन्मुखता प्राप्त करनी है।
- मुझे स्वयं को बदलना है (जो कि आसान है), दूसरों को बदलने का आग्रह नहीं रखना है (जो कि मुश्किल है और निराशा, शोक, सन्ताप, कष्ट इत्यादि का जनक है); दूसरों को तो हम सिर्फ़ प्रेरणा दे सकते हैं।
- सभी संसारी जीवों के पास अनन्त काल तक रहने के दो ही स्थान हैं - १ .मोक्ष (अनन्त सुख) २ . निगोद (अनन्त दुःख) अगर मोक्ष नहीं मिला तो निगोद बिना किसी प्रयास के (by default) मिल जायेगा। इसलिये हमें मोक्ष के लिये ही सारे प्रयास करने हैं।
- औरों से अपनी तुलना न करके अपने भूतकाल की तुलना अपने वर्तमान से करनी है और अपने वर्तमान को बेहतर बनाना है। इस तरह हमें दैनिक प्रगति (daily progress) करनी है।
- यह नियम दिन भर प्रयोग में लायें और रात को सोने से पहले अपनी भूलों को जाँचकर उसे सुधारने का प्रयास करना चाहिये।

विस्तृत समझ के लिये कृपया संकलनकार द्वारा लिखित
'सुखी होने की चाबी' और **'सम्यग्दर्शन की विधि'** पढ़ें।

UNIVERSAL LAW

Universal Operating System Applicable to All

Compiled by : **CA Jayesh Sheth** ● www.jayeshsheth.com

- ❖ I receive what I give. What I wish for others comes back to me.
- ❖ I am the soul. This body is a role that I have been given. Generally, we get the role we had hankered after.
- ❖ Whatever is happening to me is a mirror of my past. It is a reflection of my past deeds. What I have not done or not caused or supported to be done through acts of mind, speech and body shall never happen to me.
- ❖ Therefore, no injustice is done to me either at present or in the past, or in the future. By realising this, I remain firmly in the **'No Complaint Zone'.** Whatever has caused me pain is the result of my past actions. It has nothing to do with others. So there is no question of blaming others. Hence the **'Why Me?'** question does not arise.
- ❖ I create good luck by doing puṇya (merits).
- ❖ I create bad luck by committing pāpa (sins/demerits) like indulging in the 7 vices (viz. gambling, consuming alcohol, consuming non vegetarian food, visiting prostitutes, stealing, hunting and indulging in adultery/infidelity), consuming tobacco in any form, eating after sunset and eating honey, root vegetables, pickles, figs, butter, etc. It is like maximising our income and minimising our expenses.
- ❖ Bear in mind: Puṇya = gain, Pāpa = Pain
- ❖ Reflect on this: I shall learn to gain from pain

- ❖ I am here to give unconditionally, without any expectations. By giving, I am either repaying my old debts or creating new deposits. I benefit in both cases.
- ❖ I have to perform my duty to the best of my ability without expecting others to do their best. I must fulfil my duty towards family, friends, colleagues, society, country and humanity.
- ❖ I have to be strict with myself and lenient with others.
- ❖ Whatever happens to me, happens for good. Believing in this brings super positivity.
- ❖ I have to deal with people in four ways (Four Bhāvanās):

1. **मैत्री *Maitrī* — *Universal Friendship:*** *It shall protect my happiness by not creating enmity with others. Wanting the welfare of others ensures my welfare.*
2. **प्रमोद *Pramoda*** — ***Admiration:*** *I shall imbibe others' virtues by admiring them.*
3. **करुणा *Karuṇā*** — ***Compassion:*** *Compassion for sinners because they are unaware of the Universal Law.*
4. **माध्यस्थ्य Mādhyasthya** — ***Indifference or No Response:*** *When someone hurts me, I shall stay calm, keep quiet and contemplate upon 'Thank you! Welcome!' inside my heart. It protects my happiness. It is a shield for my happiness. It is a 3-step mental process, not to be spoken aloud:*

   Step 1 – I shall apologise for my mistakes. **(Sorry! Sorry!)**

   Step 2 – I shall not repeat my mistakes. **(Never again!)**

Step 3 – I should believe that my opponent has obliged me by cleaning me. So I shall say **'Thank you!'** to him in my heart. This will ensure that annoyance/irritation does not get triggered and that I do not get trapped in the vicious circle of anger and resentment as they shall certainly lead me to increased anger, grief, hatred and pain in the future.

'Thank you!' is like fire fighting. I should use it first. The three steps are like a post-mortem. They are a shield for my happiness and good spirits. They save me from negative thoughts and emotions and make space for positivity. Hence, they are a **'Welcome!'** process.

- ❖ Attitude changes through conviction and not by force because this is the path of *Sahaja Yoga* and not *Haṭha Yoga.*
- ❖ My goal is to use this mind and body to liberate myself by gaining Samyak Darśana (self-realisation).
- ❖ Hunger for food, hunger for sex, fear and possessiveness are the four saṃjñās (basic instincts). I must mitigate my all-consuming desire for them by realising that they drive my continued transmigration.
- ❖ The truth lies within me. I do not have to go anywhere seeking it. I just need to look inward.
- ❖ To attain Samyak Darśana, I am always **'Ready to Accept'** the truth and **'Ready to Change'** accordingly.
- ❖ Only one who has attained Samyak Darśana can guide others. Such a person never thrusts himself into the limelight. He never seeks fame and fortune. He remains in

the background and helps true seekers on a one-on-one basis.

- To make real progress on the spiritual path, I have to rise above worldly desires. I need not give up my worldly home, family or wealth.
- I have to change myself, which is easy, and not others, which is challenging and causes anger, animosity, anguish, fear, grief, disappointment, frustration and resentment.
- I have to remember this: There are only two abodes where the soul can reside infinitely — ***Mokṣa*** and ***Nigoda***

  Mokṣa = liberation, the highest form of existence, the state of supreme and unending bliss

  Nigoda = bondage, the lowest form of existence, the state of intense sorrow, constant agony and endless pain and suffering
- I have to ask myself which option I prefer, out of ***Mokṣa*** and ***Nigoda***. If I choose Mokṣa, I have to work for it. ***Nigoda*** is my default destination. I shall not compare myself with others. Instead, I have to compare my today with my yesterday and ensure daily improvement. This is the way to achieve daily progress. I have to check my Bucket List and work on it with the Twelve Contemplations. I need to check my likes and dislikes every two hours and correct them. I have to apply this all day and check for deviations at night before going to sleep.

प्रश्न - धर्म यानी क्या ?

उत्तर - धर्म का सामान्य अर्थ सम्प्रदाय समझा जाना है परन्तु धर्म का सच्चा अर्थ वस्तु का स्वभाव (गुणधर्म) है।

प्रश्न - आत्मा का स्वभाव (गुणधर्म) क्या है ?

उत्तर - आत्मा का स्वभाव (गुणधर्म अर्थात् लक्षण) जानना - देखना है।

प्रश्न - आत्मा की पहचान क्या ? उसका अनुभव कैसे हो सकता है ?

उत्तर - सभी को अपने भाव, ज्ञान, जगत इत्यादि जानने में आते ही हैं किन्तु वे अपने को आत्मा नहीं मानकर, शरीर मानते हैं। यही मिथ्यात्व है। अगर हम स्वयं को शरीर मानें, तब आँख अच्छी होने पर भी मृत्यु के बाद उस आँख से दिखता नहीं परन्तु वही आँखे अगर किसी प्रज्ञाचक्षु के शरीर में प्रत्यारोपित की जायें तो वह देख सकता है। इससे निश्चय किया जा सकता है कि जानने- देखनेवाली आत्मा मृत शरीर से चली गयी है। जबकि वैसी ही जानने-देखनेवाली आत्मा उस प्रज्ञाचक्षु के शरीर में मौजूद है, जिससे वह देख सकता है। इसी तरह जानने-देखनेवाली आत्मा की पहचान करके आँखों के द्वारा ज्ञेयों को देखती है वह ज्ञायक जानने-देखनेवाली आत्मा, वह मैं स्वयं हूँ, न कि आँखें। वह मैं हूँ, सोऽहम्, वह ज्ञानमात्रस्वरूप ही मैं हूँ, ऐसा निश्चित करना अर्थात् मैं मात्र जानने-देखनेवाला ज्ञायक-ज्ञानमात्र शुद्धात्मा ही हूँ-ऐसी भावना भाना और वैसा ही अनुभव करना। वही अनुभव/सम्यग्दर्शन की विधि है।

प्रश्न - सम्यग्दर्शन के लिये क्या योग्यताएँ आवश्यक है ?

उत्तर - सामान्यरूप से सज्जनता, सरलता, अन्याय-अनीति का त्याग, अभक्ष्य (मांस, मछली, मक्खन, शहद, कन्दमूल, रात्रिभोजन, अचार, पापड़, इत्यादि) का त्याग, सप्त महाव्यसन (जुआँ, शराब, मांसाहार, वेश्यागमन, चोरी, शिकार और परस्त्रीगमन अथवा परपुरुषगमन) का त्याग, भवभ्रमण का डर, संसार असार लगना, भव रोगसमान लगना, अपनी आत्मा के कल्याण की तीव्र इच्छा, बारह भावनाओं का चिन्तवन, सभी जीवों को मैत्री आदि चार भावनाओं से ही देखना-समझना, तत्त्व का निर्णय करना और देव-शास्त्र- गुरु का परम आदर आवश्यक योग्यताएँ हैं।

आध्यात्मिक प्रगति के लिये विज़िट करें
www.jayeshsheth.com

मैत्री भावना – सर्व जीवों के प्रति मैत्री का चिन्तवन करना, मेरा कोई दुश्मन ही नहीं ऐसा चिन्तवन करना, सर्व जीवों का हित चाहना।

प्रमोद भावना – उपकारी तथा गुणी जीवों के प्रति, गुण के प्रति, वीतरागधर्म के प्रति प्रमोदभाव लाना।

करुणा भावना – अधर्मी जीवों के प्रति, विपरीतधर्मी जीवों के प्रति, अनार्य जीवों के प्रति करुणाभाव रखना।

माध्यस्थ्य भावना – विरोधियों के प्रति मध्यस्थभाव रखना।

आपके जीवन में सम्यग्दर्शन का सूर्योदय हो, और उसके आलोक से
आपको अव्याबाध सुखस्वरूप सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हो,
यही मेरी अन्तरात्मा से अभिलषित मंगलमयी भावना है।

JSBN

ISBN

ISBN 978-93-344-1984-9

9 789334 369953